साहित्यिकों के पत्र

(उन की अपनी लिखावट में)

संग्रही और सम्पादक

पं० किशोरीदास वाजपेयी

प्रकाशक

हिमालय एजेन्सी, कनखल (उ० प्र०)

प्रकाशक
हिमालय एजेन्सी, कनखल (उ० प्र०)

प्रथम सस्करण १९५८

मूल्य दो रुपए

मुद्रक ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता-७

प्रासंगिक निवेदन

अति दुरूह विस्तृत जीवन जो,
ग्रन्थो में है नही समाता ;
वही किसी के एक पत्र में,
ज्यो का त्यों पूरा बँध जाता !

'सम्मेलन-संग्रहालय, के (पाण्डुलिपि-विभाग के) अधिकारी श्री वाचस्पति गैरोला को ब्लाक बनवा कर भिजवा देने का काम मैं सौंप आया था और शेष पत्रों को टंकित कराने-भेजने का भी काम। दोनो काम उन्हों ने कर दिए ; इस लिए धन्यवाद। ब्लाक बनाने के लिए भाई गैरोला जी ने अपनी रुचि के अनुसार कार्ड स्वेच्छा से छाँटे हैं। कितने ही स्वर्गीय तथा जीवित साहित्यिकों के कार्डों के ब्लाक नहीं बन पाए हैं, जिन के बिना इस चीज में वट्टा लग गया है—रुपया पन्द्रह आने का ही रह गया है ! पर चलो, पन्द्रह आने तो सामने आए। आगे यह घाटा भी पूरा हो जाए गा, ब्याज भी लग जाए गा। टंकित पत्रों का उपयोग दूसरी तरह से आगे हो गा।

कनखल (उ० प्र०)
१५।८।५८

—किशोरीदास वाजपेयी

आचार्य द्विवेदी

हिन्दी - सरस्वतीं वन्दे,
महावीर च मानिनम् ।
यत्प्रसादाद् वय प्राप्ताः,
नवीना युग-चेतनाम् ।

आचार्य प० महावीर प्रसादजी द्विवेदी हिन्दी के युग-निर्माता हैं। द्विवेदीजी ने हिन्दी में सम्पादन-कला का प्रवर्तन और परिष्कार किया। सन् १९०१ से पहले की सामयिक पत्रिकाएँ देख लीजिए, कैसी थीं! इस से पहले की 'सरस्वती' ही देख लीजिए।

आचार्य द्विवेदी ने साहित्य कम, साहित्यिक अधिक पैदा किए। इस युग के वडे-से-वडे लेखक, महाकवि और आचार्य उन्हीं के वनाए हैं। नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) में सुरक्षित 'सरस्वती' की पाण्डुलिपियो को देखने से पता चलता है कि हिन्दी के इस महान् ऋषि ने क्या कुछ किया है।

इस के अतिरिक्त, आचार्य द्विवेदी ने अपने विशुद्ध और कर्मठ जीवन से हमें गार्हस्थ्य की शिक्षा दी है, स्त्री-जगत् का सम्मान करना सिखाया है, ग्राम-सेवा में तो वे महात्मा गान्धी के भी पथ-प्रदर्शक हुए, कठिन परिश्रम करके पैसा कमाना और साथ-साथ उसे सत्कार्य में लगाते रह कर भी कुछ-कुछ वचाते रहना और फिर सचित निधि को सुव्यवस्थित रूप से लोकोपयोगी सस्थाओ को वाँट देना, पर साथ ही अपने आश्रित वहन-भानजो का भी पूरा ध्यान रखना, यह सामजस्य-वुद्धि भारतीय गृहस्थ के लिए उन के जीवन में आदर्श-रूप है।

व्यवस्था-प्रिय वे ऐसे थे कि अपने कमरे में पडे मेरे धूल-धक्कड भरे जुते एक कपडे से साफ कर रहे थे, मैं ने आ कर देखा! घवरा कर हाथ से छीन लिए, तो वोले—'पहले साफ क्यो नहीं किए थे?'

आचार्य द्विवेदी ने भाषा-परिष्कार का वहुत काम किया। सव से पहले भाषा-शुद्धि पर उन्हो ने ही ध्यान दिया था। परन्तु 'सरस्वती'-सेवा से छुट्टी ले कर जव वे ग्राम-सेवन करने लगे, तो हिन्दी में फिर गडवडी

पैदा हुई। नए-नए काम में सतत चौकसी की जरूरत रहती है। सन् १९२१–२५ के बीच, पांच ही वर्षों में अराजकता हिन्दी में फैल गई! तब मेरा ध्यान इस ओर गया। मैं ने पत्र-पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। मेरा यह सौभाग्य कि आचार्य द्विवेदी मेरे लेखों पर भी नजर डाल लेते थे। मैं तो उन्हें ही अपना आदर्श समझ कर काम कर रहा था, पर कभी उन के पास पत्र भेजने की हिम्मत न हुई। परन्तु वे कैसे भूलते? सन् १९३० में उन का पहला कार्ड मेरे नाम 'हरिद्वार, ऋषिकुल' के पते पर भेजा हुआ मिला। मैं ऋषिकुल में न था, हाई स्कूल में था और 'कनखल' रहता था। सौभाग्य की बात, कार्ड एक सज्जन ने मेरे पास पहुंचा दिया। वह कार्ड ही ब्लाक के लिए देना था, यह बात गैरोला जी न समझ सके! ऐतिहासिक महत्त्व रखता है वह कार्ड। उसी कार्ड का फल है कि मैं उत्साहवान् हुआ और हिन्दी में आगे बढ कर कुछ काम कर सका।

मैं ने उत्तर में अभिवादन-पत्र भेजा। फिर पत्र-व्यवहार बराबर रहा और लगभग पचास पत्र आचार्य द्विवेदी के हाथों के लिखे प्राप्त करने का सौभाग्य मुझे मिला।

इस कार्ड में 'स्फुट' का जिक्र है। मैं ने किसी पत्र में कुछ (गलत या गलत अर्थ में चलते) शब्दों पर कोई लेख लिखा था। उसी सिलसिले में आचार्य ने 'स्फुट' की याद दिलाई है।

'वाच्यों का तारतम्य'। मैं 'गुरु' जी के व्याकरण का खण्डन कर रहा था—'वाच्य'-प्रकरण का। एक शब्दशास्त्री 'गुरु' जी के समर्थन में आगे आ गए। इन महाशय के लेख का मैं ने जो खण्डन किया था, उसी सिलसिले में पंक्तियां हैं।

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी में आलोचना तथा साहित्य-इतिहास की जो लीक खींच दी है, उस से इधर-उधर लोग अभी तक नहीं हो सके हैं। मैं उन के सम्पर्क में पत्र-व्यवहार से भी नहीं रहा। बात यह हुई कि उन का संबन्ध 'सभा' से था और मैं 'सम्मेलन' में नत्थी था; राष्ट्रभाषा का प्रचार कर रहा था। 'सभा' साहित्यिक काम कर रही थी, जिस के प्रति मेरी आदर-भावना थी; पर अंग्रेजी सरकार से इसे आर्थिक सहायता मिलती थी और इसी लिए वार्षिक विवरण सरकार को धन्यवाद से शुरू होता था! मुझे यह सह्य न था। शत्रु से किसी अच्छे काम में भी मदद लेना मेरी भावना पसन्द न करती थी। 'सम्मेलन' राजर्षि टंडन के संचालन में था, जिस पर तिरंगा झंडा फहराता रहता था, जो उस समय राष्ट्रीयता का प्रतीक था। 'सभा' का मैं न सदस्य बना, न इस की 'पत्रिका' को कभी कोई लेख भेजा, न उत्सव में ही हाजिर हुआ। इसी लिए आचार्य शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दर दास आदि से निकट सम्पर्क सम्भव न हुआ।

परन्तु जब मैं ने व्रजभाषा-मुक्तक काव्य 'तरंगिणी' लिखी, तो 'बुद्ध-चरित' के लेखक से भूमिका लिखाने की इच्छा हुई और पत्र-व्यवहार हुआ। बस, एक ही पत्र मेरा उन की सेवा में गया और यह एक ही कार्ड उन का मुझे प्राप्त हो सका! उन के हस्ताक्षर ही मेरे लिए बहुत हैं—अभि-वादनीय हैं।

आचार्य शुक्ल के पत्र में कोई भी ऐसी चीज नहीं, जिस का मुझे खुलासा करना हो।

शुक्ल जी के अक्षर देखिए, जैसे मोती हों। अक्षर बराबर, लकीर बराबर, सब कुछ मोहक!

ऐसे ही अक्षर डा० अमरनाथ झा के थे—मोती—जैसे। पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र की भी ऐसी ही सुन्दर लिखावट है।

ऐसी सुन्दर लिखावट के पास यदि मेरे बेडौल अक्षर रख दिए जाएँ, तो ऐसा लगेगा कि चींटे को स्याही में डुबो कर कागज पर छोड़ दिया

गया हो! और मुझ से भी आगे हैं प० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल, महापण्डित राहुल साकृत्यायन, डा० सम्पूर्णानन्द जी और बाबू रामचन्द्र वर्मा!

राजर्षि टंडन की भी लिखावट बहुत सुन्दर है। पर उनके किसी कार्ड का ब्लाक ही नहीं बना!

पत्र में 'कीजिएगा' ध्यान देने योग्य है, पर लोग अब भी 'कीजिये' 'चाहिये' लिखते जाते हैं!

आचार्य ने अव्यय 'लिए' लिखा है, पर 'नागरी-प्रचारिणी सभा' (काशी) अब भी 'लिये' को ही लिए पड़ी है!

अनुनासिक की जगह अनुनासिक चिह्न ही हैं, अनुस्वार दे कर काम नहीं निकाला है। लिखावट के लिए आदर्श पत्र है।

महाकवि 'हरि औध'

पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरि औध' और महाकवि श्री मैथिली-शरण गुप्त का नाम उन दिनों साथ-साथ इसी तरह चलता था, जैसे सूर और तुलसी का चलता है। एक का नाम लेने से दूसरे का अपने आप

आ जाता है। मैं ने सब से पहले 'हरि औध' जी का 'ठेठ हिन्दी का ठाट' देखा और फिर 'प्रिय-प्रवास' की तो धूम ही थी। बाद में कितनी ही कविताएँ प्रकट हुईं; पर 'प्रिय-प्रवास' तथा 'भारत-भारती' का जो आदर और प्रचार हुआ, अन्य का नहीं।

'हरि औध' जी वैसे थे तो गुरु नानक के अनुयायी, पर खान-पान में पूरे सनातनी थे। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के (दिल्ली-अधिवेशन के) अध्यक्ष बडोदा-नरेश निर्वाचित हुए थे—श्री सया जी राव गायकवाड। (इस निर्वचन का कारण यह था उक्त महाराज ने अपने राज्य की राजभाषा हिन्दी घोषित कर दी थी और घोषणा को कार्य-रूप में भी परिणत कर दिया था।) परन्तु बडोदा-नरेश आ न सके थे, इस लिए सभापतित्व श्री 'हरि औध' जी को ही करना पडा था। इस से पहले 'हरि औध' जी 'सम्मेलन' के निर्वाचित अध्यक्ष एक बार पहले भी रह चुके थे।

मैं भी दिल्ली (अधिवेशन पर) पहुँचा था। उसी समय अपने साहित्यिक सन्त—श्री 'हरि औध' जी—के दर्शन किए। पाटोदी-हाउस में खाने-पीने का प्रबन्ध था। एक अनाथालय के लडके सब सँभाल रहे थे। स्वागताध्यक्ष इन्द्र जी थे। आर्यसमाजी वातावरण था। श्री 'हरि औध' जी स्वयपाकी थे। वे जहाँ अपना भोजन बना रहे थे, जाने-आने का रास्ता भी था। लोगों को पता भी न था कि कितना बचना चाहिए! मैं ने देखा, आप बडी परेशानी में हैं। मैं वहीं कुर्सी और मेज इस तरह लगा कर बैठ गया कि वह रास्ता ही रुक गया। मजे से भोजन बना। इस पर ब्रह्मर्षि ने मुझे हार्दिक आशीर्वाद दिया—गद्गद हो कर।

'मदरास' से मतलब मदरास-'सम्मेलन' से है। दूर होने के कारण मैं न जा सका था।

'हरि औध' जी अव्यय 'लिए' को 'लिये' लिखते थे। उन्हीं की पद्धति पर आज भी नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) चल रही है। सच बात तो यह है कि उस समय तक 'लिए-लिये' आदि पर विचार भी न हुआ

था! दिल्ली-'सम्मेलन' के अवसर पर बाबू गुलाब राय एम० ए० ने कहा—'लिए' और 'चाहिए' आदि शब्दो को केवल स्वर से लिखना चाहिए, या य-सहित स्वर से; इस का कोई निर्णय नहीं!' मुझे यह बात लगी और तब मैं ने इस पर विचार किया। लेखों में और पुस्तको में विचार प्रकट किए। ये विचार निर्णय की कोटि में पहुँच गए। फिर भी अन्धाधुन्धी चल रही है! उस समय तक भाषा-विज्ञान तथा भाषा-प्रकृति से पुष्ट तर्क किसी ने न दिया था कि कौन-सा रूप सही और कौन-सा गलत है। इस लिए श्री 'हरि औध' जैसे हिन्दी-जगत् के पितामह का 'लिये' प्रयोग गलत नहीं कहा जा सकता; यह 'आर्ष-प्रयोग' है। परन्तु जब निर्णय हो गया, उस के बाद भटकना गलती है। कानून बनने से पहले कोई अपराध नहीं; पर कानून बन जाने पर उसके विपरीत जाना अपराध समझा जाता है। उस समय तो यही था—'हम तो भाई, 'लिए' लिखते हैं' और 'हमारे यहाँ तो 'लिये' चलता है!' किसी और कोई प्रबल तर्क न थे—थे तो सही, पर प्रकट न थे, किसी ने इस संबन्ध में सोचा न था!

सो, महाकवि 'हरि औध' का 'लिये' अव्यय 'आर्ष-प्रयोग' है। दूसरा कोई ऐसा लिखे गा, तो वह गलत हो गा।

डॉ० अमरनाथ झा

आधुनिक भारत के सारस्वत-सागर ने जो कई अनमोल रत्न हमें दिए, उन में अन्यतम है स्वर्गीय महामहोपाध्याय डा० गगानाथ झा संस्कृत के अगाध विद्वान्, भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल प्रतीक, विनय की मूर्ति ! प्रयाग-विश्वविद्यालय के आप सर्वमान्य कुलपति रहे। आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी का महान् अभिनन्दन-समारोह प्रयाग में सम्पन्न हुआ, तो इस समारोह-यज्ञ के प्रमुख प० लक्ष्मीधर वाजपेयी ने आप को (समारोह की) अध्यक्षता करने के लिए राजी कर लिया। वैसे आप ऐसे सभा-समारोहो से सदा दूर रहा करते थे।

इस समारोह का उद्घाटन महर्षि प० मदन मोहन मालवीय ने किया था। बीच में आचार्य द्विवेदी और उन के उभय पार्श्वों में उपर्युक्त दो वन्दनीय विभूतियों के दर्शन जिन्हें मिले, उन सौभाग्यशालियों में इन पक्तियों का लेखक भी है।

डा० गगानाथ झा कृतज्ञता और विनय के अवतार थे। 'मुझे हिन्दी की ओर आचार्य द्विवेदीजी ने ही प्रवृत्त किया था'—कहते हुए जब हमारे वृद्ध-वशिष्ठ आचार्य द्विवेदी के पाँव छूने के लिए झुके और आचार्य द्विवेदी ने उन के हाथ बीच में ही पकड कर जिस रूप में प्रतिविनय प्रकट की, देखने की चीज थी!

इन्हीं डॉ० गंगानाथ झा के सुयोग्य पुत्र हुए डॉ० अमरनाथ झा। डॉ० अमरनाथ झा एक मुद्दत तक प्रयाग-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष रहे। फिर इसी विश्वविद्यालय के तीन बार कुलपति निर्वाचित हुए। आप के कार्य-काल में इस विश्वविद्यालय ने कितनी उन्नति की, सब जानते हैं। इस के अनन्तर काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय के भी आप कुलपति रहे। उत्तर प्रदेश तथा विहार के जनसेवा-आयोग के आप अध्यक्ष भी रहे।

रहन-सहन पहले अंग्रेजी ढंग का था। पता न था कि इस ऊपरी अंग्रेजी वातावरण में भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीयता इतनी भरी है! जब हिन्दी के मुकाबले 'हिन्दुस्तानी' (उर्दू—हिन्दी) को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन जोर से चला, तो प्रयाग-विश्वविद्यालय के डॉ० ताराचन्द ने खुल कर इस का समर्थन किया—लेखों का तांता बांध दिया! सभी विश्वविद्यालयों पर और 'शिक्षित' जनों पर असर पडा—लोग ढुलमुलाने लगे! डॉ० ताराचन्द का प्रभाव ही ऐसा था। इस समय डॉ० अमरनाथ झा की वह चीज सामने आई, जो रिक्थ-रूप में उन्हें अपने महान् पिता से प्राप्त हुई थी। इस समय डॉ० अमरनाथ झा ने कलम उठाई और अपने ओजस्वी लेखों से डॉ० ताराचन्द को चित कर दिया! हिन्दुस्तानी के नहले पर हिन्दी का यह दहला ऐसा पडा

कि क्या पूछो ! पासा पलट गया। लोग पुन हिन्दी पर दृढ हो गए।

ठीक इसी समय 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' के अबोहर-अधिवेशन के सभापति का चुनाव सामने आ गया। महात्मा गान्धी से हिन्दी को बहुत बल मिला था और राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टडन उन्हें सम्मेलन में ले आए थे। 'सम्मेलन' के दो बार अध्यक्ष भी महात्माजी निर्वाचित हुए और हिन्दी का खूब समर्थन किया ; परन्तु बाद में मुसलमान साथियों का कुछ ऐसा प्रभाव पडा कि वे 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक हो गए थे। यह वही हिन्दुस्तानी थी, जिस का समर्थन उस से बहुत पहले राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने किया था और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र आदि ने जिसका विरोध कर के हिन्दी के पैर हिन्द में जमाए रखे थे।

'सम्मेलन' का प्रभाव था। महात्माजी ने अपना प्रतिनिधि बना कर डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी का नाम प्रस्तावित कराया। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद साधारण व्यक्ति नहीं—महान् नेता ! और इस से पहले वे एक बार 'सम्मेलन' की और एक बार 'कांग्रेस' की अध्यक्षता कर भी चुके थे। फिर, महात्माजी का समर्थन ! पर चुनाव तो हिन्दी-हिन्दुस्तानी में से एक का करना था ! हिन्दी वालों ने डॉ० अमरनाथ झा का नाम प्रस्तावित किया और चुनाव में डॉ० झा विजयी रहे ! हिन्दी की जीत हुई। इस के बाद महात्माजी ने 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' अलग बना ली थी।

बस, यहां से डॉ० अमरनाथ झा का ऊपरी वेश-विन्यास बदला। कुर्ता-धोती भी उन पर खूब फबती थी।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बडे जिन्दादिल साहित्यिक थे। हास्य रस तो चतुर्वेदियों को घूंटी में ही शायद पिला दिया जाता है। कोई-कोई (प० बनारसी दास चतुर्वेदी जैसे) व्यक्ति अपवाद में मिलें गे और सचमुच चतुर्वेदी के लिए यह एक भारी 'अपवाद' है कि चतुर्वेदी हो कर भी ये वैसे नहीं। परन्तु जो हास्य रस लिखते नहीं, वे स्वय हास्य रस बन जाते हैं। प० बनारसी दास चतुर्वेदी जब 'एम० पी०' हो गए, तो नई दिल्ली के '९९ नार्थ एवेन्यू' में मैं उन से मिलने गया।

कुर्ता उतारे, पाजामा पहने, जनेऊ-विहीन, लब-धडग, टूटा दांत सामने दिखाते हुए चतुर्वेदी ने जो स्वागत किया, तो मेरे मन की कली खिल उठी। फिर वे अपने बडे-बडे बक्सो में भरी साहित्यिक इतिहास की चीजें जब दिखाने को उठे और नीचे सरकता हुआ पाजामा अपने एक हाथ से बार-बार ऊपर खसकाते हुए जब उस सामग्री के दिखाने-बताने में विभोर हो रहे थे, तब फोटो उतारने लायक थे! प० श्रीनारायण चतुर्वेदी रहते बहुत कैंडे से हैं, पर चीजें कैसी गुदगुदाने वाली देते हैं और इस गुदगुदाने में कहीं जरा भी अश्लीलता नहीं रहती। 'श्री विनोद शर्मा अभिनन्दन ग्रन्थ' कैसा दिया है?

खैर, मैं प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के बारे में कुछ कह रहा था। आप कलकत्ते के व्यापार-व्यवसाय की शुष्कता से सूखी लक्ष्मी निकाल कर साहित्यिक रस लेते थे। जब स्वर्गीय बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने आचार्य प० महावीर प्रसाद द्विवेदी से हिन्दी-शब्दो पर विचार-चर्चा छेडी और समुद्र-मन्थन हुआ, तो चतुर्वेदीजी ने गुप्तजी का साथ दिया था। 'सम्मेलन' के अध्यक्ष भी आप चुने गए। मैंने यह देखा कि अध्यक्ष बन चुकने के बाद लोग 'सम्मेलन' में जाना बन्द कर देते थे—राजर्षि टडन की तो बात ही दूसरी है। ये तो 'सम्मेलन' के प्राण ही ठहरे। पर और किसी को मैंने नहीं देखा कि अध्यक्षता करने के बाद भी, साधारण प्रतिनिधि के रूप में, 'सम्मेलन' में पहुँचता हो। एक प० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

ही इस के अपवाद थे। प्राय: सभी अधिवेशनों पर दर्शन देते थे; पर वाद-विवाद से परे रहते थे।

मैंने पहले-पहल 'सम्मेलन' के ग्वालियर-अधिवेशन पर दर्शन किए। राव राजा प० श्यामविहारी मिश्र अध्यक्ष थे। बात-बात पर 'राज-नीति' से चौंकते थे। हिन्दी का समर्थन मिश्रबन्धुओं ने उस समय (सरकारी उच्च अधिकारी होते हुए भी) किया था, जब इस की कोई पूछ-पछोर न थी। पर 'राय बहादुर' थे। अधिवेशन में कुछ 'रस' न मिल रहा था। पर चतुर्वेदीजी ने सब नीरसता दूर कर दी। बोले—'आप को मैं अपना साहित्यिक उत्तराधिकारी नियुक्त करता हूँ।' मैंने कहा—'यह उत्तराधिकार कैसा? मैं हास्य-रस से कोसों दूर हूँ।' बोले—'आप चुटकियाँ बडी मजेदार लेते हैं। इसी लिए मेरे उत्तरा-धिकारी।'

इस अधिवेशन पर श्री सुभद्राकुमारी चौहान को 'सम्मेलन' ने पारि-तोषिक देकर सम्मानित किया था। चतुर्वेदीजी ने कहा—'जगन्नाथ और सुभद्रा के एक साथ दर्शन लोगो को कितने सुखद हों गे।'

'सम्मेलन' के सस्मरण प्रयाग के एक साप्ताहिकक पत्र में किसी 'विश्वमोहन एम० ए०' ने लिखे और लिखा कि 'प० जगन्नाथप्रसाद जैसे खूसट सम्मेलन में न जाया करें, तो अच्छा! जब 'जगन्नाथ' के साथ 'सुभद्रा' का नाम चतुर्वेदी ने लिया, तो श्री सुभद्राकुमारी चौहान लज्जा से जमीन में गड गई थीं।"

इस एम० ए० को मैं ने बहुत फटकारा और बताया (उसी प्रयागीय पत्र में) कि जगन्नाथ (कृष्ण) की बहन हैं सुभद्रा। विश्वमोहन ने क्या समझ लिया? भाई और बहन साथ-साथ न बैठें? उस उजड्ड ने चतुर्वेदीजी को 'खूसट' कहने की धृष्टता की है!'

चतुर्वेदीजी इस के बाद 'सम्मेलन' में शायद ही कभी गए हों और 'विश्वमोहन' का नाम तो मैं ने उस के बाद कहीं देखा ही नहीं!

आदरणीय पं० सकलनारायण शर्मा

आदरणीय पं० सकलनारायण शर्मा आरा (विहार) के निवासी थे। पाण्डेय श्री रामावतार शर्मा, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, डा० सच्चिदानन्द सिंह, श्रीयुत खुदाबख्श आदि उन सस्मरणीय सारस्वत सपूतों में प० सकलनारायण शर्मा हैं, जिन से विहार गौरवान्वित हुआ है। डा० राजेन्द्र प्रसाद तो हैं ही। आप का नाम मैं ने जान-बूझ कर ऊपर के लोगों में नहीं लिया है।

पं० सकलनारायण शर्मा संस्कृत के महान् विद्वान् थे और राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्थक थे। पटना से 'शिक्षा' नाम की मासिक पत्रिका निकालते थे। तिकडमी थे नहीं, अंग्रेजी राज था, हिन्दी की कौड़ी उठती न थी। अन्तत 'शिक्षा' छोड कलकत्ते आप चले गए, पर शिक्षा उन्हें कैसे छोडती? वह तो उन की जन्म-सगिनी थी। कलकत्ते में आप अध्यापन करने लगे।

सन् १९३५ में सरकार ने आप की विद्वत्ता का सम्मान किया—'महामहोपाध्याय' के पद से विभूषित किया। मैं ने इस अवसर पर अभिवादन-पत्र भेजा था। उसी के उत्तर में पडित जी का यह कार्ड आया था।

प० सकलनारायण शर्मा घनिष्ठ मित्र थे पं० पद्मसिंह शर्मा के और प० पद्मसिंह शर्मा के कैसे अभिन्न मित्र पं० भीमसेन शर्मा थे, यह तो उन के सस्मरणों से ही प्रकट है। प० भीमसेन शर्मा ज्वालापुर महाविद्यालय में (पं० पद्मसिंह शर्मा के साथ) अध्यापक थे। कदाचित् पं० सकलनारायण शर्मा भी वहां कुछ दिन रहे हों—पं० नरदेव शास्त्री बता सकते हैं।

प० सकलनारायण शर्मा—जैसे न जाने कितने महान् पुरुष हिन्दी के इस महाप्रासाद की नींव में अज्ञात प्रस्तर-खण्ड बने पडे हैं! नमस्कार!

सेठ कन्हैयालाल जी पोद्दार

सेठ कन्हैया लाल जी पोद्दार अत्यन्त विनम्र प्रकृति के सात्त्विक व्यक्ति थे। पक्के सनातनी थे और पूर्वजों के सम्मान को तनिक भी धक्का लगना उन्हें असह्य था; यहां तक कि साहित्य के आचार्य मम्मट आदि के किसी विचार का खण्डन भी उन्हें विचलित कर देता था! कई वार मेरे मुंह से वैसी बातें सुन कर वे नाराज हो जाते थे; पर वह नाराजी भी हँस कर ही प्रकट करते थे।

सेठ जी को लेख आदि लिखने के लिए आचार्य द्विवेदी ने आमन्त्रित किया था, 'सरस्वती' का सम्पादन-भार सँभालते ही। उस समय सेठ जी प्राय: कविताएँ ही लिखा करते थे—ब्रजभाषा में। विषय नवीन ढूंढते थे। बंबई के समुद्र का वर्णन एक कविता में किया था, जिसे मैंने देखा है। सभी का साहित्यिक जीवन प्राय कविता या कथा—कहानी से ही प्रारम्भ होता है। आगे चल कर जब किसी विशेष विषय में परिपक्वता आती है, तब धारा गंभीर हो चलती है। सेठ जी ने भी आगे चल कर रस—अलंकार के विवेचन पर ध्यान दिया। आप ने 'मेघदूत' पर भी अच्छा काम किया है; परन्तु 'काव्य-कल्पद्रुम' ने बहुत अधिक सम्मान तथा प्रसार प्राप्त किया।

कभी-कभी शास्त्रार्थी रूप भी आप का प्रकट होता था। सीपी (सी० पी०, उस समय के मध्य-प्रदेश) के नोती, राय बहादुर बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' के 'काव्य-प्रभाकर' का खण्डन बड़े जोर से सेठ जी ने कर दिया था। 'भानु' जी का असली विषय छन्दशास्त्र था—हिन्दी के वे पिङ्गलाचार्य ही थे। बडी प्रतिभा थी। उच्च सरकारी अधिकारी हो कर भी 'भानु' जी तथा मिश्रबन्धुओं ने उस समय हिन्दी की ओर मुख किया, जब इस की कोई दर-कदर न थी! इन लोगों की देखा-देखी दूसरे भी इधर मुडे। 'भानु' जी ने छन्द-शास्त्र पर जो काम कर दिया, उस से आगे हिन्दी में कोई जा नहीं सका है और उन से पहले ही किसी से वह काम न बन पडा था। मैं एक बार 'भानु' जी से मिलने गया—सन् १९२५ की, या उस के कुछ इधर-उधर की बात है। सेठ जी 'काव्य

प्रभाकर' की धज्जी उड़ा चुके थे। बीड़ी हरदम पीते रहते थे, जैसे डा० श्यामसुन्दर दास जी हुक्का ! मैं ने बात-चीत में पोद्दार जी का जिक्र किया—'काव्य-प्रभाकर' की आलोचना की चर्चा की। 'भानु' जी का यह मुख्य विषय न था, इस लिए कुछविशेष न कह कर बोले—'पोद्दार जी ब्राह्मण-सेवी हैं, सब काम उन के बन जाते हैं !'

'भानु' जी कवि थे ! मैं ने व्यजना जो समझी, आगे चलकर गलत निकली। मैं ने समझा कि पोद्दार जी पंडितों की सेवा कर के लिखा लेते हैं और अपने नाम से छपाते हैं !

इस यात्रा से घर वापस आकर हिन्दी की सभी (प्रचलित) अलंकार और रस की पुस्तकों की आलोचना की, 'काव्यकल्पद्रुम' की भी। 'काव्य-कल्पद्रुम' के संबन्ध में यही लिखा था कि उदाहरण संस्कृत से अनुवाद कर के देने से विरसता आ गई है, बस ! कहीं-कहीं लक्षण आदि पर भी छींटे थे और अन्त में यह भी लिख दिया था कि 'सेठ जी ब्राह्मण-सेवी हैं, सब काम बन जाते हैं !'

सेठ जी ने 'माधुरी' में ही उत्तर छपाया। मैं ने प्रत्युत्तर न दिया; चुप हो गया ! कई वर्ष बाद उन का पत्र आया—'काव्य-कल्पद्रुम' का अगला संस्करण तयार हो रहा है। इसे देख लीजिए। पहले देख लेना अच्छा है। यहाँ (मथुरा) आ कर महीना-पन्द्रह दिन रहिए।' मैं गया और तब विचार-मन्थन में उन का इस विषय का पाण्डित्य देखा। चलते समय, जब मैं टाँगे पर बैठ गया, बोले—'बाजपेयी जी, आप की वह बात कैसी है?' मैं ने पूछा—'कौन सी ?' बोले—'ब्राह्मण-सेवी' वाली। 'ब्राह्मण-सेवी तो आप हैं ही !' 'नहीं, जो व्यजना आप ने की थी।' 'वह तो गलत निकली।' हाथ जोड़ कर बोले—'तो फिर उस का निराकरण होना चाहिए।' मैं ने स्वीकार किया और 'माधुरी' में ही अपने भ्रम का संशोधन छपवा दिया।

हिन्दी और स्वराज्य आन्दोलन के तेजस्वी और सात्त्विक नेता प० सिद्धनाथ माधव आगरकर 'खडवा' (म० प्र०) से 'हिन्दी-स्वराज्य' साप्ताहिक पत्र निकालते थे। यह पत्र बरावर मेरे पास आता था। इस में साहित्यिक टिप्पणियां श्री विनय मोहन शर्मा लिखा करते थे। सामने मुलाकात न थी, पर मेरा हृदय भाई आगरकर के हृदय से मिल गया था।

सामने दर्शन केवल एक बार ही हुए—दिल्ली में। 'हिन्दी पत्रकार-सम्मेलन' था। जहां तक याद पडता है, आगरकर जी कोई पदाधिकारी थे। अध्यक्ष थे श्री हरिशकर 'विद्यार्थी'—कानपुर के 'प्रताप'—सम्पादक। विचार-विमर्श पर किसी बात से मैं नाराज हो गया, और उठ कर चला गया, अपने आसन पर लेट रहा! भाई आगरकर जी पीछे ही पीछे आए और इस तरह मनाया कि जैसे इन के लडके की वरात रुकी हो, एक बुजुर्ग को वरात में चलने के लिए मनाने में! मै 'सम्मेलन' को तो कुछ समझता न था, पर आगरकर जी को समझा! बिल्ली की तरह उठ कर चला गया! उस सम्मेलन में सब से अधिक लाभ मुझे यही हुआ—आगरकर जी के दर्शन।

सन् १९३८-३९ की बात है, मैं नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया! समाचार छपा, तो आगरकर जी ने पत्र भेजा और लिखा कि 'आप अपनी पुस्तक आदि का विज्ञापन 'हिन्दी स्वराज्य' में चाहे जब तक छपा सकते

हैं—आप का पत्र है। मैं इस समय आप की यह सेवा करना चाहता हूँ।' ऐसा ही पत्र 'सैनिक' के संचालक-सम्पादक पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल का आया था। तब तक मेरी कोई पुस्तक तो छपी ही नहीं थी—पत्र पत्रिकाओं में छपे लेखों के कारण ही प्रसिद्धि थी। विज्ञापन क्या छपाता! सोचा कि हिमालय की चीजें (शिलाजीत, ब्राह्मी आदि) बाहर भेजने का काम किया जाए। इस के लिए 'हिमालय एजेंसी' के नाम से 'सैनिक' तथा 'हिन्दी स्वराज्य' में विज्ञापन छपाने लगा। लोग शिलाजीत आदि मँगाने लगे। कुछ काम चला; पर इसी अर्से में कांग्रेस सरकार ने मेरी अपील सुन ली और मैं पुनः अपने काम पर पहुँच गया—अध्यापन करने लगा। तब भाई आगरकर को पत्र लिख कर मना किया कि अब विज्ञापन छापने की जरूरत नहीं है—न छापिए। तब विज्ञापन छपना बन्द हुआ। 'सैनिक' ने स्वतः छापना बन्द कर दिया था।

सो, भाई आगरकर जी में ऐसी आत्मीयता भी थी। मैं ने 'हिमालय एजेंसी' का काम बन्द कर के अच्छा न किया। कांग्रेसी मन्त्रिमंडल ने ज्यों ही त्यागपत्र दिया, मुझे फिर बर्खास्त कर दिया गया! इस बार मैं ने छोटा-सा प्रेस खरीद कर चलाना शुरू किया, जो मेरे लिए प्रेत बन गया—मुझे ही खाने लगा! अनुभव था न नहीं। इधर सरकार ने प्रेस-ऐक्ट में मुकदमा चला दिया। बडी झंझटों में पडा। काम आता न था, सो अपना ही लिखा छपाने लगा! 'द्वापर की राज्य-क्रान्ति' या 'सुदामा' (नाटक) और 'लेखन-कला' छपी।' प्रकाशक, हिमालय एजेंसी' लिख दिया। प्रेस का नाम 'भागीरथी प्रेस' था। यों 'हिमालय एजेंसी' की कथा है, जिस का नाम 'अच्छी हिन्दी' और 'संस्कृति के पांच अध्याय' आदि के कारण हिन्दी-जगत् में अनन्त काल तक रहे गा। इस 'एजेंसी' का संबन्ध यों भाई आगरकर जी से है। वे आज भी मेरे हृदय में उसी तरह हैं और सदा रहें गे। पत्र में 'गंगा' के लेख का उल्लेख है। मैं ने अपने जीवन के प्रारम्भ की (प्रायः १६१० से १६१८ तक की) चर्चा की थी।

श्री रामदास गौड़

श्री रामदास गौड का गौरवमय नाम मैं सन् १९१९ से ही सुनता आ रहा था। वे प्रयाग में विज्ञान के प्राध्यापक थे और महात्मा गान्धी के असहयोग-आन्दोलन में सरकारी नौकरी छोड कर अलग हो गए थे। 'रामचरित-मानस' का मनन और चरखे का कातना—'रामदास गौड'। आगे उन्हों ने बडी गरीबी का जीवन बिताया! कुटुम्ब के भरण-पोषण तक की चिन्ता! सच बात तो यह है कि अध्यापकों से सरकारी नौकरी छुड़वाना कोई 'असहयोग' न था! सरकार का इस से क्या बिगड़ा यह तो चाहती ही थी कि राष्ट्रीय प्रवृत्ति के लोग शिक्षा-संस्थाओं से जाएँ, तो अच्छा, नहीं तो ये छात्रों को भी अपना जैसा बना दें गे सचमुच राष्ट्रीय प्रवृत्ति के अध्यापक जहाँ से हटे, वहाँ घोर गु पहुँच कर अराष्ट्रीय भावनाएँ छात्रों में भरने लगे थे। पुलिस, अद और सेना से असहयोग करवाना था! सो कुछ न हुआ और एक मौलाना मुहम्मद अली ने कह दिया कि खिलाफत का मसला हल के लिए हर-एक मुसलमान को अंग्रेजी सरकार की फौज से हट

चाहिए, तो तत्कालीन वायसराय के कहने पर महात्मा जी ने मौलाना से माफी मँगवाई! तो, फिर अध्यापक नौकरी छोड कर कौन-सा सरकारी काम रोक सकते थे? हां, अध्यापकों में भावुकता होती है और अन्य विभागों की तरह कठमुल्लापन या गुलमटापन कम होता है। सो, बहुत से अध्यापक सरकार से 'असहयोग' करके योगी—अवधूत बन गए थे। उन में से अधिकाश के दिन बुरे बीते। पर फिर भी वे अपनी आन पर डटे रहे। श्री रामदास गौड ऐसे लोगों में अग्रणी थे।

सन् १९२७-२८ की बात है, गुरुकुल-विश्वविद्यालय (कागडी) ने गौड जी को अपने यहां बुला लिया। बहुत थोडे वेतन पर चले गए थे—जरूरत थी! हरिद्वार का आकर्षण भी था। तब गगा जी के उस पार (कागडी में) यह 'विश्वविद्यालय' था। मैं भी हरिद्वार पहुँच गया और जब यह मालूम हुआ कि गौड जी आज-कल गुरुकुल में है, तो मैं उन से मिलने गया। ज्वालापुर के गुरुकुल-महाविद्यालय के आचार्य मित्रवर प० हरिदत्त शास्त्री का साथ था। गुरुकुल में पहुँचने पर घटे-घडियाल की और शख की ध्वनि सुनाई दी। अचरज की बात थी! पूछने पर मालूम हुआ कि गौड जी के यहां इसी तरह नित्य पूजा-आरती होती है।

हम लोग पहुँचे। 'सत्यनारायण' की कथा थी। प्रसाद लिया। बातें हुई और बस!

कुछ दिन बाद गौड जी अपना सामान लदाए सकुटुम्ब कनखल आए, आवाज दी। मिलने पर कहा—"काशी जा रहा हूँ। पानी पिलाओ। मैं ने गुरुकुल में पानी पीना भी उचित नहीं समझा!" पानी ही पी कर स्टेशन चले गए। बाद में भाई प० हरिदत्त शास्त्री से सब रहस्य मालूम हुआ। वे उन से अग्रेजी पढ़ा करते थे। मालूम हुआ कि गौड जी के 'लेबोरेटरी असिस्टेंट' को गुरुकुल के उपाचार्य श्री विश्वनाथ जी ने किसी काम से बुला लिया था। गौड जी आए और लेबोरेटरी में किसी को न देख झल्ला उठे। मामला बढा। श्री विश्वनाथ जी ने कहा कि मैं उपाचार्य हूँ, लेबोरेटरी असिस्टेंट को बुला सकता हूँ। गौड जी का कहना

था कि लेबोरेटरी को यों नहीं छोड़ा जा सकता है और मेरे असिस्टेंट को मेरी अनुमति के बिना कहीं जाना न चाहिए। गुरुकुल के अधिकारी अपनी बात पर अड़े रहे और इसी पर गौड जी वहां से तुरन्त उसी तरह चल पड़े!

मैं गौड जी के रहन-सहन से तथा 'गौड' शब्द से उन्हें ब्राह्मण समझा करता था। ब्राह्मण तो वे थे ही, पर जन्मना कायस्थ थे। काशी में कायस्थों का एक वर्ग 'गौड' भी है। अचरज की बात है कि यह महान् वैज्ञानिक भूत-प्रेतों में पूरा विश्वास करता था! 'प्रणम्याः खलु सन्त'।

आचार्य पं० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी

आचार्य प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी हिन्दी के उन महान् प्रपितामहों में हैं, जिन के सतत अध्यवसाय से हिन्दी वस्तुत 'हिन्दी' बनी। सौभाग्य से आज भी आप हमारे बीच में हैं और हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आप हिन्दी की यह चौथी पीढ़ी अपने सामने देख रहे हैं, इस लिए विगत सत्तर वर्षों के इतिहास की आप प्राणवन्त मूर्ति हैं।

वाजपेयी जी राजनीति में लोकमान्य तिलक के अनुयायी हैं। सम्पादन-कला के तो आप आचार्य हैं ही; दो विषय आप के प्रिय हैं, जिन पर सदा लिखते रहे हैं, आज भी लिख रहे हैं—१—राजनीति और २—हिन्दी-व्याकरण।

वाजपेयी जी अकेले ही चलने वाले केसरी हैं। जब आचार्य द्विवेदी ने भाषा-शुद्धि तथा व्याकरण पर बहुत जोर दिया और उस के परिणाम-स्वरूप नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) ने हिन्दी का एक प्रामाणिक और

पूर्ण व्याकरण लिखवाने का उद्योग किया, तो हिन्दी-व्याकरण समिति पथ-प्रदर्शन तथा परीक्षण के लिए बनी और प० कामता प्रसाद 'गुरु' को हिन्दी-व्याकरण लिखने का काम सौंपा गया। प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी को भी व्याकरण-समिति में रखा गया और प० गोविन्दनारायण मिश्र (कलकत्ता) को भी। उन दिनों वाजपेयी जी भी कलकत्ते ही रहते थे। आचार्य द्विवेदी व्याकरण-समिति में प्रमुख थे। सदस्यों में प० रामचन्द्र शुक्ल जैसे अन्य साहित्यिक भी थे।

ऐसा लगता है कि वाजपेयी जी ने अनुभव किया कि व्याकरण यों ठीक न बने गा और बन जाने पर कहाँ-कहाँ,क्या-क्या चीज देखी-समझी जाए गी! और फिर विवाद कर के सशोधन करना-कराना भी एक झमेला! सो, उन्होंने स्वतत्र रूप से हिन्दी का व्याकरण लिखना शुरू कर दिया। सोचा हो गा, दो चीजें सामने आ जाएँ गी, तो जिस में जो चीज ठीक हो गी, मान ली जाए गी। दोनों व्याकरण एक दूसरे के पूरक भी हो सकते थे। काम में लग गए और 'गुरु' जी का 'हिन्दी-व्याकरण' समिति की जिस बैठक में परीक्षित होने को था (बृहस्पतिवार, आश्विन शु० ३ सवत् १९१७ तदनुसार ता० १४ अक्टूबर १९१२० को) वाजपेयी जी तथा प० गोविन्द प्रसाद मिश्र उपस्थित नहीं हुए थे।

'गुरु' जी का,'हिन्दी-व्याकरण' अभी प्रकाशित भी न हो पाया था कि वाजपेयी जी का बृहद् हिन्दी-व्याकरण ('हिन्दी-कौमुदी') प्रकाशित हो कर सामने आ गया! 'गुरु' जी ने अपने 'हिन्दी-व्याकरण' की भूमिका में लिखा है—"हिन्दी-कौमुदी' अन्यान्य सभी व्याकरणों की अपेक्षा अधिक व्यापक, प्रामाणिक और शुद्ध है।"

१९४३ में 'व्रजभाषा का व्याकरण' मेरा निकला। उस की भूमिका में मैंने प्रचलित व्याकरणों की आलोचना की। इस की एक प्रति 'गुरु' जी को रजिस्टरी पैकेट से भेजी और एक वाजपेयी जी को। 'गुरु' जी ने तो प्राप्ति-सूचना भी न दी, पर वाजपेयी जी ने खुल कर कहा—"इस पुस्तक का भूमिका-भाग हिन्दी के व्याकरणों का व्याकरण है।"

यही स्पष्टता आचार्य द्विवेदी में थी। वाच्य-विवेचन जब मैं कर रहा था, तुरन्त मेरे विचारों पर अप्रत्यक्ष-रूप से अपनी मुहर लगा दी थी और स्वनिर्देशित तथा प्रमाणी-कृत 'हिन्दी-व्याकरण' की गलती मान ली थी।

पत्र में 'मराल' का जिक्र है। मैं इस पत्र का सम्पादक था और डा० श्यामसुन्दर दीक्षित सहकारी सम्पादक थे। नीर-क्षीर को अलग-अलग करता था—'मराल'। श्री गुलाब राय एम० ए० के 'नव रस' की आलोचना की गई थी और कहा गया था कि यह विषय मूलत: संस्कृत में है, अंग्रेजी में नहीं; इसी लिए बाबू गुलाब राय गड़बड़ाए हैं! कोई चीज अंग्रेजी साहित्य से ला कर देते, तो बहुत अच्छी रहती।

महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी

महामहोपाध्याय प० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी संस्कृत साहित्य के अगाध समुद्र हैं। भारतवर्ष में चार-पांच ही ऐसे विद्वान् मिलें गे, और ये भी जा रहे हैं, जाने वाले हैं! इन के बाद संस्कृत के गहन विषयों का गहरा पाण्डित्य समाप्त हो जाए गा! पूर्वजों ने संस्कृत में जो साहित्य दिया है, उसे ठीक-ठीक समझ सकने वाले भी कहीं न मिलें गे! मुसलमानी शासन-काल में उस निधि की रक्षा तपस्वी ब्राह्मणों ने कर ली, अंग्रेजी राज में भी उसे गले लगाए रखा; पर अब अपने राज में 'अपना' साहित्य कैसे बचे! महान् ग्रन्थों का आलोडन करने वाले मन्दराचल अब न मिलें गे।

श्री चतुर्वेदी जी का नाम मैं ने सन् १९१५-१६ में ही सुन लिया था, जब वे ऋषिकुल (हरिद्वार) में प्रधान अध्यापक थे। वहां से 'ब्रह्मचारी' नाम का एक मासिक पत्र भी निकलता था। इस पत्र में मैं श्री चतुर्वेदी जी के विचार पढ़ा करता था। फिर लाहौर में (सन् १९१८ में) उन के दर्शन किए, जब वे वहां 'सनातनधर्म संस्कृत-महाविद्यालय' के आचार्य थे। उन में मेरी श्रद्धा बराबर बढ़ती ही गई।

उन दिनों चतुर्वेदी जी हिन्दी के पूरे सम्पर्क में थे, जव सस्कृत के पण्डित हिन्दी-पुस्तकों को 'भाखा' कह कर फेक देते थे! मैं ने चतुर्वेदी जी के मुंह से पुराने हिन्दी-कवियो की सूक्तियां सुनी हैं। चतुर्वेदी जी स्वर्गीय वावू वालमुकुन्द गुप्त की शैली की वडी प्रशसा करते हैं। चतुर्वेदी जी के साथियो में ही प० शालग्राम शास्त्री–जैसे धुरन्धर हिन्दी के लेखक थे और प० पद्मसिह शर्मा भी इसी गोल के थे। प० पद्मसिह शर्मा और पं० शालग्राम शास्त्री भी सस्कृत के महान् विद्वान् थे। प० शालग्राम शास्त्री तो अ० भा० सस्कृत-साहित्य-सम्मेलन की अध्यक्षता भी कर चुके थे। परन्तु इन सस्कृत-पण्डितों की चहकती हुई भापा तो देखिए! दिल फडक उठता है। सस्कृत न जानने वाले लोग जा-वेजा सस्कृत के अप्रचलित और दुर्वोध शव्द दे-दे कर ('हिन्दी के विद्वान्' कहलाने की सनक से) हिन्दी को विकृत कर रहे हैं! चतुर्वेदी जी जानदार हिन्दी के समर्थक हैं। पत्र में अपने हस्ताक्षर करने के वाद जो शव्द चतुर्वेदी जी ने टिकट भेजने के सम्वन्ध में लिखे हैं, ध्यान देने योग्य हैं। सस्कृत के पण्डितो में यह चीज कम मिलती है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

चिरगाँव (झाँसी)

जब मैं संस्कृत का छात्र था, गुप्त जी की 'भारत-भारती' प्रकाशित हुई। बडी धूम थी। राष्ट्रीयता का और भारतीय संस्कृति का शख-नाद समझिए। प्रबुद्ध तरुणजन 'भारत-भारती' की पक्तियां गुन-गुनाते रहते थे। आचार्य द्विवेदी की भावना उन के सुयोग्य शिष्य ने सवाक् कर दी थी। उन दिनो हमारे प्रदेश में श्री गणेशशङ्कर 'विद्यार्थी' का 'प्रताप' था और गुप्त जी की 'भारती' थी। आचार्य द्विवेदी के ये दो प्रमुख शिष्य राष्ट्रीयता का उद्घोष अपने-अपने ढंग से कर रहे थे। इसी समय मैं भी गुप्त जी की ओर उन्मुख हुआ।

दर्शन बहुत दिन बाद काशी में हुए, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन पर। इस अधिवेशन पर अध्यक्ष थे पूज्य प० अम्बिका प्रसाद वाजपेयी। आचार्य द्विवेदी का स्वर्गवास हो चुका था। गुप्त जी अपनी लबी दाढी-मूछ साफ कराए हुए थे। सिर पर उस्तरा न फिरा था, नहीं तो समझता कि आचार्य द्विवेदी के स्वर्गवास पर यह सब है! उन का श्मश्रुल चेहरा चित्रों में बहुत अच्छा लगता था। परन्तु वे महात्मा गान्धी के उस सत्याग्रह में जल चले गए थे, जो (द्वितीय विश्वयुद्ध के दिनो में सघर्ष छेडने के सतत आग्रह पर) 'काग्रेस की प्रतिष्ठा के लिए' महात्मा जी ने छेडा था और अपनी स्वीकृति दे कर ही किसी को सत्याग्रही बनने देते थे। ध्यान रहे, इस सत्याग्रह में भाग लेने की अनुमति (मांगने पर भी) श्री सुभाषचन्द्र बोस को महात्मा जी ने न दी थी! हमारे कनखल के स्वामी सत्यदेव परिव्रजक को भी अनुमति न मिली थी, पर स्वामी जी बोस थोडे ही है! सत्याग्रह कर दिया और जेल गए—आंखों से लाचार होने पर भी! बोले—अच्छे काम में अनुमति की परवाह न करनी चाहिए।

खैर, गुप्त जी को अनुमति मिली थी और जेल में ही उन्हो ने मूछ-दाढ़ी साफ करा दी थी। दलिया जेल की बढ़िया होती है। उस के रसास्वाद में बाधा पडी हो गी—मूछ-दाढी में चिपट जाती हो गी। मुझे भी इस का अनुभव है—जेल में मूछें बनवा दी थीं; पर घर आने पर

घरनी बेहद नाराज हो गई—'मूछें कहां गईं!' 'फिर आ जाएं गीं' कह कर किसी तरह समझाया!

कोई सन् १९४०-४१ की बात है—मैं झांसी गया। मेरी बड़ी लड़की (चि० सावित्री) वहां बहुत बीमार हो गई थी। मेरे चचेरे भाई झांसी ही रहते हैं—पं० गंगाचरण वाजपेयी। तार पा कर मैं झांसी गया। 'चिरगांव' समीप ही है। मैं ने एक कार्ड भेजा—'दर्शन करने की इच्छा है'। मतलब यह था कि कहीं बाहर गए हों, तो जा कर क्या करूं! घर हों गे, तो जाऊं गा। गुप्त जी ने पत्र का उत्तर डाक द्वारा पत्र से नहीं दिया, अपने एक भतीजे को भेजा। (नाम मैं भूल गया हूं)। उनके भतीजे में विनय न हो गी, तो किस में हो गी? घर पहुंच कर विनय-पूर्वक गुप्त जी का पत्र मेरे हाथ में दिया; 'शुष्क पत्र' नहीं, हरा-भरा। यानी कुछ 'भेंट' भी गुप्त जी ने भेजी थी। वे राम-उपासक वर्णाश्रमी हैं। पत्र में लिखा था कि 'कई दिन से अस्वस्थ हूं। हो सके तो दर्शन अवश्य दें। स्वस्थ होता, तो झांसी आकर दर्शन करता!' अपने राष्ट्र-कवि का यह स्नेह-सौजन्य मेरा परम सौभाग्य था। मैं दूसरे-तीसरे ही दिन चिरगांव गया। घर देख कर, पहले घर का विशाल फाटक ही देख कर, पता चल जाता है कि गुप्त जी का घर चिरगांव का चिरप्रतिष्ठित मान-केन्द्र है। दो-तीन दिन बड़ा आनन्द रहा। वहां रह कर मैं ने अनुभव किया कि कविता में चाहे न हों; पर सौजन्य-शालीनता में उन के अनुज श्री सियाराम शरण गुप्त उन से कम नहीं, आगे ही हैं। गुप्त जी के अग्रज तथा भतीजे भी वैसे ही मिले। गुप्त जी की मेरे ऊपर सदा कृपा रही है, विचारों में भेद होने पर भी।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

हिन्दी पत्र

व्यंग्य ○ विनोद ○ समीक्षा ○ साहित्य

'उग्र' जी जब पहले-पहल कलकत्ते में चमक रहे थे—'निराला' जी के साथ 'मतवाला' के पृष्ठों को आगे बढ़ा रहे थे, तब से मैं जानता हूँ। उग्र जी, निराला जी, पन्त जी, महादेवी जी आदि ने जब साहित्य में प्रवेश किया, कुछ आगे-पीछे मेरा भी वही समय है। कहने को तो सन् १९१६ में मेरा पहला लेख 'वैष्णव-सर्वस्व' में 'दशधा भक्ति' शीर्षक से निकला था, जिस से पत्र के सम्पादक (प० किशोरीलाल गोस्वामी) बहुत प्रसन्न हुए थे; परन्तु मेरा वास्तविक साहित्यिक जीवन १९१९ में 'शास्त्री' हो जाने के बाद शुरू हुआ। यही समय 'उग्र' आदि का है।

जब 'मतवाला' में 'उग्र' जी की कलम से 'चन्द हसीनों के खुतूत' निकल रहे थे, एक तूफान था! बाद में पुस्तकाकार भी यह चीज निकली थी। अन्ततः हिन्दू-संगठन उद्देश्य था। 'मतवाला' पत्र ऐसा निकला, जैसा न कभी पहले निकला था, न फिर बाद में कोई वैसा निकला! 'मतवाला' खुद भी वैसा न रहा, जब कलकत्ते से मिर्जापुर उठ आया। बाद में 'हिन्दू पंच' निकला सही, पर यह बात न थी! सहगल जी के 'चांद' के साथ 'मतवाला' भी बैठ गया! 'सम्मी-मारवाड़ी' अमेला इन दोनों पत्रों को ले बैठा और 'विश्वमित्र' चमक गया!

खैर, 'उग्र' जी कलकत्ते रहे। इधर बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'विशाल भारत' निकाला। चट्टोपाध्याय जी प्रवासी भारतीयो पर बहुत ध्यान देते थे और प्रवासी-सेवा में अग्रणी प० तोताराम सनाढ्य के सग से प० बनारसीदास चतुर्वेदी पर भी कुछ-कुछ वह रग चढ गया था। चतुर्वेदी जी ने इस सबन्ध में कुछ लिखा भी था। सो, चट्टोपाध्याय जी ने चतुर्वेदी जी को 'विशाल भारत' का सम्पादक बना कर कलकत्ते बुला लिया। चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' में 'घासलेटी साहित्य' के विरोध में एक आन्दोलन छेड दिया! मिट्टी के तेल को 'घासलेटी तेल' कहते हैं। वासना को भडकानेवाला साहित्य 'घासलेटी साहित्य'! इस में 'उग्र' जी प्रमुख निशाना थे। 'चांद'-कार्यालय से प्रकाशित 'अबलाओं का इसाफ' आदि भी लिए गए। 'अबलाओं का इसाफ' बीकानेर के एक सेठ जी ने लिख कर भेजा था, जो आज कल गीता के 'अपने' अर्थ का प्रचार कर रहे हैं। विधवाओ को किस तरह फँसा लेते हैं लोग, यही सब था। मारवाडी विधवाओ का जिक्र था। साथ ही 'चांद' का 'मारवाडी-अङ्क' सामने आ गया! इस में भी बीकानेरी सेठ की मदद थी। मारवाडी समाज को क्रुद्ध होना ही था! मैं ने सहगल जी से कहा भी था कि मारवाडी स्त्रियो के खुले पेट चित्रित करते हैं आप, तो अपने मूल स्थान (पजाब) की स्त्रियों को सरे-आम एकदम नग्नावस्था में स्नान करते क्यो नहीं दिखाते? नाराज हो गए! कलकत्ते में व्यापार को ले कर खत्री, गुजराती और मारवाडी भिडते रहते हैं! 'मतवाला' के सम्पादक-मालिक श्री महादेव प्रसाद सेठ भी खत्री थे। चपेट में आ गए! 'उग्र' जी को चतुर्वेदी जी ने बैठा दिया, यद्यपि वे अभी तने हुए हैं। हिन्दी में अश्लील से अश्लील चीजें निकल रही हैं, कोई बोलता नहीं! पर 'उग्र' में तो कोई चीज भी है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

खैर, 'उग्र' जी कलकत्ते रहे। इधर बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'विशाल भारत' निकाला। चट्टोपाध्याय जी प्रवासी भारतीयों पर बहुत ध्यान देते थे और प्रवासी-सेवा में अग्रणी प० तोताराम सनाढ्य के संग से प० बनारसीदास चतुर्वेदी पर भी कुछ-कुछ वह रंग चढ़ गया था। चतुर्वेदी जी ने इस संबन्ध में कुछ लिखा भी था। सो, चट्टोपाध्याय जी ने चतुर्वेदी जी को 'विशाल भारत' का सम्पादक बना कर कलकत्ते बुला लिया। चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' में 'घासलेटी साहित्य' के विरोध में एक आन्दोलन छेड दिया! मिट्टी के तेल को 'घासलेटी तेल' कहते हैं। वासना को भडकानेवाला साहित्य 'घासलेटी साहित्य'! इस में 'उग्र' जी प्रमुख निशाना थे। 'चाँद'-कार्यालय से प्रकाशित 'अबलाओं का इंसाफ' आदि भी लिए गए। 'अबलाओं का इंसाफ' बीकानेर के एक सेठ जी ने लिख कर भेजा था, जो आज कल गीता के 'अपने' अर्थ का प्रचार कर रहे हैं। विधवाओं को किस तरह फँसा लेते हैं लोग, यही सब था। मारवाडी विधवाओं का जिक्र था। साथ ही 'चाँद' का 'मारवाडी-अङ्क' सामने आ गया! इस में भी बीकानेरी सेठ की मदद थी। मारवाडी समाज को क्रुद्ध होना ही था! मैं ने सहगल जी से कहा भी था कि मारवाडी स्त्रियों के खुले पेट चित्रित करते हैं आप, तो अपने मूल स्थान (पंजाब) की स्त्रियों को सरे-आम एकदम नग्नावस्था में स्नान करते क्यों नहीं दिखाते? नाराज हो गए! कलकत्ते में व्यापार को ले कर खत्री, गुजराती और मारवाडी भिडते रहते हैं! 'मतवाला' के सम्पादक-मालिक श्री महादेव प्रसाद सेठ भी खत्री थे। चपेट में आ गए! 'उग्र' जी को चतुर्वेदी जी ने बैठा दिया, यद्यपि वे अभी तने हुए हैं। हिन्दी में अश्लील से अश्लील चीजें निकल रही हैं, कोई बोलता नहीं! पर 'उग्र' में तो कोई चीज भी है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

खैर, 'उग्र' जी कलकत्ते रहे। इधर बाबू रामानन्द चट्टोपाध्याय ने 'विशाल भारत' निकाला। चट्टोपाध्याय जी प्रवासी भारतीयों पर बहुत ध्यान देते थे और प्रवासी-सेवा में अग्रणी प० तोताराम सनाढ्य के सग से प० बनारसीदास चतुर्वेदी पर भी कुछ-कुछ वह रग चढ गया था। चतुर्वेदी जी ने इस सवन्ध में कुछ लिखा भी था। सो, चट्टोपाध्याय जी ने चतुर्वेदी जी को 'विशाल भारत' का सम्पादक बना कर कलकत्ते बुला लिया। चतुर्वेदी जी ने 'विशाल भारत' में 'घासलेटी साहित्य' के विरोध में एक आन्दोलन छेड दिया! मिट्टी के तेल को 'घासलेटी तेल' कहते हैं। वासना को भडकानेवाला साहित्य 'घासलेटी साहित्य'! इस में 'उग्र' जी प्रमुख निशाना थे। 'चांद'-कार्यालय से प्रकाशित 'अबलाओ का इसाफ' आदि भी लिए गए। 'अबलाओं का इसाफ' बीकानेर के एक सेठ जी ने लिख कर भेजा था, जो आज कल गीता के 'अपने' अर्थ का प्रचार कर रहे हैं। विधवाओं को किस तरह फँसा लेते हैं लोग, यही सब था। मारवाडी विधवाओ का जिक्र था। साथ ही 'चांद' का 'मारवाडी-अङ्क' सामने आ गया! इस में भी बीकानेरी सेठ की मदद थी। मारवाडी समाज को क्षुब्ध होना ही था! मैं ने सहगल जी से कहा भी था कि मारवाडी स्त्रियो के खुले पेट चित्रित करते हैं आप, तो अपने मूल स्थान (पजाब) की स्त्रियो को सरे-आम एकदम नग्नावस्था में स्नान करते क्यों नहीं दिखाते? नाराज हो गए! कलकत्ते में व्यापार को ले कर खत्री, गुजराती और मारवाडी भिडते रहते हैं! 'मतवाला' के सम्पादक-मालिक श्री महादेव प्रसाद सेठ भी खत्री थे। चपेट में आ गए! 'उग्र' जी को चतुर्वेदी जी ने बैठा दिया, यद्यपि वे अभी तने हुए हैं। हिन्दी में अश्लील से अश्लील चीजें निकल रही हैं, कोई बोलता नहीं! पर 'उग्र' में तो कोई चीज भी है।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन

एक समाचार-पत्र ने प० वाल गगाधर तिलक के लिए' लोकमान्य' विशेषण लगाया, जिसे सम्पूर्ण देश नें ग्रहण कर लिया , क्योकि वह तात्त्विक चीज थी। इसी तरह 'श्री मोहनदास करम चन्द गान्धी' जव अफ्रीका में थे, किसी ने उन के नाम के आगे 'कर्मवीर', शब्द जोडा, जिसे सव ने मान लिया और 'कर्मवीर गान्धी' शब्द चला। आगे चल कर इसी तरह 'महात्मा' शब्द लगा। इन शब्दों से प्रकट होता है कि सम्पूर्ण देश ने वैसा स्वीकार किया और इस लिए स्वीकार किया , क्योकि असन्दिग्ध-रूप से वह वात देखी–पाई।

इतिहास के महान् विद्वान् और हिन्दी के उन्नायक, पटना के प्रसिद्ध वैरिस्टर डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने श्री राहुल जी को 'महापण्डित' कहा, लिखा। देश ने और विदेशो ने भी श्री राहुल जी के लिए यह शब्द स्वीकार कर लिया और आज 'महात्मा' तथा 'लोकमान्य' कहने से जैसे वे विशिष्ट जन ही समझे जाते हैं, उसी तरह 'महापण्डित' कहने से राहुल जी समझे जाते हैं।

राहुल जी वौद्ध हैं, कम्यूनिस्ट हैं और मैं वष्णव हूँ, हिन्दुत्ववादी हूँ। वे मासभोजी हैं और मैं तो वष्णव हूँ ही। और भी कई वातो में हम दोनो बेमेल हैं। परन्तु तो भी, वे मुझे मानते हैं और दूसरो से भी मनवा लेने में उन्होने सफलता प्राप्त की है। यह एक अलग चर्चा है। कहने का मतलब यह कि राहुल जी का हृदय अत्यन्त उदार है।

राहुल जी के सामने न कोई ब्राह्मण है, न चमार-भगी ही। ईसाई-पारसी-मुसलमान आदि भी उन के सामने समान हैं। परन्तु तो भी, ब्राह्मणत्व उन में है—वे भीतर-बाहर एक हैं। जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का आन्दोलन चल रहा था,तो 'हिन्दू-महासभा' को छोड, शेष सभी राजनैतिक दलों ने विरोधी रुख अपना रखा था, अराष्ट्रीय तत्त्वों की ओर देख कर! व्यक्तिगत रूप से महात्मा गान्धी ने तथा राजर्षि पुरुषोत्तम-दास टंडन आदि ने हिन्दी का समर्थन किया था—कांग्रेस ने नहीं। कम्यूनिस्ट पार्टी तो और भी आगे थी। राहुल जी कम्यूनिस्ट हैं और

कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य थे और फिर भी, खुल कर तथा जोरों के साथ हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के (बंबई-अधिवेशन पर) आप अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस पर कम्यूनिस्ट पार्टी ने जवाब तलब कर लिया और सिद्धान्तवादी राहुल ने कम्यूनिस्ट पार्टी छोड दी; यद्यपि कम्यूनिस्ट वे कुदरती हैं और अन्त तक रहेंगे। बहुत दिन बाद, जब हिन्दी को संविधान ने राष्ट्रभाषा मान लिया और सभी राजनैतिक दलों की तरह साम्यवादी दल (कम्यूनिस्ट पार्टी) ने भी हिन्दी के आगे सिर झुका दिया, तब राहुल जी पुनः पार्टी के सदस्य हो गए। परन्तु कम्यूनिस्ट होने के कारण उन से हिन्दी का काम नहीं लिया जा जा रहा है! यह अचरज की बात है कि राहुल जी मेरा नाम सन् १६१६ से जानते हैं, जब मुझे कोई नहीं जानता था! और मैं ने उन का नाम तब जाना, जब अपने ही देश के नहीं, दूसरे देशों के विद्वान् भी जान चुके, मान चुके! मैं तो जहाँ का तहाँ रहा और राहुल जी कहाँ के कहाँ जा पहुँचे! यही नहीं, सन् १६५४ के सितंबर में राहुल जी ने कलकत्ते के 'नया समाज' में 'आचार्य किशोरीदास वाजपेयी' शीर्षक एक लेख लिख कर उन्हें भी मनवा दिया, जो कभी भी मानने को तयार न थे! इस लेख में, मुझे ऊपर उठाने के लिए, एक बात राहुल जी ने ऐसी लिखी, जो दूसरा कोई कभी भी न लिखता! उन्हों ने लिखा कि "किशोरीदास पंजाब विश्वविद्यालय की जिस सर्वोच्च संस्कृत परीक्षा में सर्व-प्रथम रहे थे, वह इतनी कठिन थी कि डी० ए० वी० कालेज (लाहौर) के जो बारह छात्र बैठे थे, सब चित हो गए थे और उन में एक मैं भी था!" किसी को ऊपर उठाने में इस से अधिक और कोई क्या करे गा?

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जब 'डाक्टर' न हुए थे, तब से मैं उन्हें जानता हूँ। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विशाल भारत' में 'शान्ति-निकेतन' के 'हिन्दी-भवन' की चर्चा की थी। उसी में पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की चर्चा थी। द्विवेदी जी वहां हिन्दी की नीवें लगा रहे थे।

मेरा उन से चुनाव-संघर्ष हो गया; उसी समय, जब वे शान्ति-निकेतन में ही थे। 'संघर्ष' तो न कहना चाहिए, 'प्रतिद्वन्द्विता' कहना ठीक है। 'हिन्दी साहित्य-सम्मेलन' का कराची-अधिवेशन सामने था और 'सम्मेलन' की 'साहित्य-परिषद्' के लिए 'स्थायी-समिति' ने जो तीन नाम छांटे थे, उन में मेरा नाम भी था। एक थे प० लक्ष्मी नारायण मिश्र। प० वाचस्पति पाठक जैसे कुछ साहित्यिक प्रयाग में ऐसे हैं, जो चाहे जिसे बनाया-हटाया करते थे। उन में वह शक्ति है। वे द्विवेदी जी को साहित्य-परिषद् का अध्यक्ष उस वर्ष बनाना चाहते थे। मिश्र जी ने द्विवेदी जी के पक्ष में अपना नाम वापस ले लिया। अब मुझे बार-बार और कई तरह से प्रेरित किया गया कि मैं भी अपना नाम वापस ले लूं; पर मैं अडिग रहा; इस लिए कि प्रयाग के उस गुट की धांधागर्दी को मैं एकदम नापसन्द करता था। जोर दे कर किसी से नाम वापस कराना बहुत बुरी बात है। मैं ने नाम वापस न लिया और चुनाव हुआ। मेरी ही तरह द्विवेदी जी भी चुनाव में तटस्थ हो कर सब देखते रहे; परन्तु प्रयागी दल ने जोर हद दर्जे का लगाया! उसे अपनी बात जो रखनी थी! द्विवेदी जी जीत गए; पर; कान-रोग से पीडित हो जाने के कारण कराची न पहुंच सके और परिषद्‌की अध्यक्षता मुझे ही करनी पड़ी! वाग्दान किसी को और भांवर किसी से! परन्तु इस से प० वाचस्पति पाठक बहुत बिगड़ गए! प० श्रीनारायण चतुर्वेदी ने उन के क्रोध को शान्त किया!

मेरा द्विवेदी जी से प्रत्यक्ष परिचय तब तक न था। जब वे हिन्दू-विश्वविद्यालय में आ गए और 'डाक्टर' हो गए, तो न जाने क्यों, मैं उन को रूखा और अहम्मन्य समझने लगा! सम्भव है, हिन्दी के 'डाक्टर' लोगों के प्रति जो मेरी एक व्यापक धारणा बन गई है, उस का परिणाम

हो! मेरी धारणा के अपवाद भी हैं—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डा० बाबूराम सक्सेना आदि। परन्तु प्रत्यक्ष परिचय के बिना धारणा कैसे बदलती?

सन् १९५४ में जब नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) ने हिन्दी का व्याकरण लिखवाने के लिए मुझे याद किया और मैं काशी पहुँचा, तब द्विवेदी जी को पहचाना। द्विवेदी जी 'सभा' के उस समय उपाध्यक्ष थे (अब भी हैं)। तब कई बार भेंट हुई और फिर तो लगभग एक वर्ष एक साथ, एक जगह, रहने को भी मिला। समीप से ही मनुष्य पहचाना जाता है। दूर से कभी-कभी किसी के सबन्ध में कैसी गलत धारणा बन जाती है! उस का कारण भी ढूंढे नहीं मिलता!

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के सबन्ध में मेरी जो धारणा थी, ठीक उस के उलटे इन्हें पाया। भारी डील-डौल में सूक्ष्म बुद्धि, हँसमुख चेहरा, टीम-टाम और गुरुडम से दूर, हद दर्जे के मिलनसार, कडवी से कडवी बात सुन कर घूंट जाने की प्रवृत्ति और सब से बढ कर बात यह कि आत्मीयता का मिठास! मिल कर मन प्रसन्न हो जाता है। 'सभा' का काम सँभालने के लिए डा० राजबली पाण्डेय हैं—प्रधान मन्त्री। पाण्डेय जी का जैसा विनयशील विद्वान् तो मुझे दूसरा मिला ही नहीं! व्यवहार-निपुणता पाण्डेय जी में अद्भुत है। तभी तो 'सभा' को मरने से बचा लिया और इतना आगे बढ़ाया। मैं अनुभव करता हूं कि 'सभा' तथा 'सम्मेलन' जैसी सस्थाओं का प्रबन्ध-सचालन किसी कोरे 'साहित्यिक' के बस का काम नहीं। बडी व्यवहार-बुद्धि चाहिए।

डॉ० सम्पूर्णानन्द जी

उन दिनों 'बाबू सम्पूर्णानन्द' ही एकमात्र कांग्रेसी नेता थे, जो 'बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन' का साथ तेजस्विता के साथ हिन्दी के मामले में दे रहे थे। १९३८-३९ के दिन बडे ही दुर्दिन थे, हिन्दी के लिए! प्रादेशिक शासन पर हिन्दवासियों के जमते ही हिन्दी खींचतान में पड गई थी और चोरदरवाजे से 'हिन्दुस्तानी' नाम से उर्दू आ रही थी! महात्मा जी के कारण 'हिन्दुस्तानी' को पूरा बल मिला! वे जो भी काम करते थे, पूरे मन से और पूरे वेग से करते थे। नेता लोग 'मिनिस्टर' बन गए थे। किसी की हिम्मत न थी कि स्वार्थ सन्दिग्ध कर के अपने मन की बात कहें—'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहित मुखम्'—सोने का ढक्कन सत्य का मुख बन्द कर देता है! देशरत्न बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी सदा हिन्दी के समर्थक रहे हैं, पर उन दिनों आप भी चुप हो गए थे और चूंकि आप 'सम्मेलन' के सभापति भी हो चुके थे, इस लिए और भी विशेषता थी! इन्हें पक्का 'हिन्दुस्तानी'—समर्थक बताने के लिए ही 'हिन्दुस्तानी प्रचार

सभा' का अध्यक्ष बनाया गया था ! अपने ही प्रदेश में नहीं, देश भर में बड़े-बड़े नेता उलट गए थे ! 'हिन्दी' नाम लेना साम्प्रदायिकता समझा जाने लगा था ! बाबू सम्पूर्णानन्द जी उ० प्र० में शिक्षा-मंत्री थे और अपने पद से ही आप ने बड़े जोर से हिन्दी का पक्ष लिया। बात बढ़ी और मुझे याद है, आप से इस मामले में जवाब-तलबी भी हुई थी। बाबू सम्पूर्णानन्द जी डिगे नहीं, बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से उचित उत्तर दिया और हिन्दी के पक्ष पर दृढ़ रहे। लोग समझते थे कि बाबू सम्पूर्णानन्द अब मंत्रिपद से हटे, अब हटे ! आप तो अपने सिद्धान्त पर दृढ़ थे, बिस्तर गोल किए बैठे थे। पर कांग्रेस के उच्च नेताओं ने बुद्धि से काम लिया, कोई छेड़-छाड़ नहीं की। परन्तु बाबू सम्पूर्णानन्द ने तो अपने को जोखिम में डाल ही दिया था !

प्रासंगिक बात है—टंडन जी की दूसरी भुजा इस कठिन समय में थे श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी। एक पुश्तैनी 'मुंशी', अर्थात् मुंशियाने में पैदा हुए वीर और दूसरे मुसलमानी शासन काल में सरकारी उपाधि 'मुंशी' पानेवाले ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न वीर। बस, इन दो वीरों के अतिरिक्त अन्य किसी भी कांग्रेसी नेता ने खुल कर हिन्दी का पक्ष न लिया, क्योंकि महात्मा जी 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक हो गए थे और इस लिए 'कांग्रेस हाई कमान' उस पक्ष में था।

'मुंशी' जी उस समय बंबई के गृहमंत्री थे, बने रहे। परन्तु विश्वयुद्ध के बाद जब नए मंत्रि-मण्डल बने, तो उन्हें कोई पद न मिला ! हां, कानून के और संविधान के ये पण्डित हैं, इस लिए संविधान-सभा में ले लिए गए। संविधान-सभा में जब पं० जवाहर लाल नेहरू ने हिन्दी को 'रोमन' अङ्कों के साथ रखने की इच्छा प्रकट की, तब मुंशी जी ने राजर्षि टंडन का साथ न दे कर नेहरू जी का समर्थन किया—नागरी के (१, २, ३ आदि) अङ्कों का विरोध कर के रोमन अङ्क हिन्दी (राष्ट्रभाषा) के मत्थे संविधान में मढ़ दिए गए ! राजर्षि टंडन ही नागरी-अङ्कों के लिए लड़ते रहे, पर किसी ने सुनी नहीं। इस के तुरन्त बाद फिर मुंशी जी चमके

श्रोर वडे-वडे सरकारी पद उन्हो ने श्रलकृत किए। उ० प्र० के 'राज्यपाल' भी वनाए गए। श्रव श्राज कल 'वडे' लोग सविधान के विरुद्ध फिर जा रहे हैं, हिन्दी का विविध प्रकार से विरोध कर रहे हैं—'मुशी' जी भी कुछ-कुछ इन सव के साथ है! ऐसा जान पडता है कि श्रव श्रागे हवा के रुख में ही वे सदा चलें गे।

परन्तु डा० सम्पूर्णानन्द श्रटल हैं। चुनाव के दिनो में मैं काशी में ही था—१९५६ में। कम्यूनिस्ट उम्मीदवार का पक्ष हिन्दी-विरोधियों ने लिया था, जो सव चीजें श्ररव की हिन्दुस्तान में देखना चाहते हैं। हवा थी! वडा डर था। परन्तु इस समय भी डा० सम्पूर्णानन्द श्रडिग रहे, चुनाव के लिए जरा भी विचलित नहीं हुए!

पं० कृष्णविहारी मिश्र

हिन्दी में 'सूर' और 'तुलसी' की तरह 'देव' और 'विहारी' के नाम भी साथ-साथ आते है, विशेषत उस समय से, जब इन दोनो के काव्यो की तुलनात्मक आलोचना सामने आई। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल ने जो 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा, उस में वहुत कुछ आधार 'मिश्र-वन्धु-विनोद' का है। कवि-चर्चा 'विनोद' की है और काव्य-विमर्श अपना। 'मिश्रवन्धु' (प० श्यामविहारी मिश्र, प० शुकदेव विहारी मिश्र, और प० गणेश विहारी मिश्र) कवि 'देव' को वहुत ऊँचा दर्जा देते थे। प० पद्म सिंह शर्मा ने 'विहारी सतसई' पर 'सञ्जीवन-भाष्य' लिखा और सुविस्तृत भूमिका में विहारी की तुलना न केवल हिन्दी-कवियो से ही की, सस्कृत, फारसी, उर्दू, प्राकृत आदि भाषाओ के भी प्रसिद्ध कवियो को सामने रखा और विहारी पर ऐसे फिदा हुए कि न 'भूतो न भविष्यति'! इस भूमिका को पढ कर अवश्य ही कोई भी हिन्दी की ओर झुक जाए गा। आचार्य प० पद्म सिंह शर्मा ने वडा काम किया है। काव्योचित फडकती हुई उन की भाषा दाद देने योग्य है। मुहर्रमी सूरत के लोग किसी भी हँसमुख को देख कर कुढ जाते हैं! वाद के इतिहास-ग्रन्थों में लोगों ने प० पद्म सिंह शर्मा की उस चहकती हुई भाषा का मजाक उड़ाया है! वे चाहते हैं कि काव्य की आलोचना भी ऐसी भाषा में हो, जो दर्शन-शास्त्र में प्रयुक्त होती है! खैर, यह प्रासगिक वात।

'सञ्जीवन-भाष्य' पूरा नहीं हुआ! ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्राय अधूरे ही रह गए है—'कादम्बरी' 'रस-गङ्गाधर' 'चित्र-मीमासा' 'वक्रोक्ति-जीवित' आदि! पर जो अश 'सञ्जीवन-भाष्य' का प्रकाशित हुआ, वही वहुत है। सभव है, जो कुछ प० पद्म सिंह शर्मा विशेष रूप से कहना चाहते हों, वह सब भूमिका-भाग में ही आ गया हो और इसी लिए आगे कुछ दोहों का अर्थ लिख कर छोड दिया हो!

इस के अनन्तर 'देव' का पक्ष लेना सरल काम न था। 'हिरोशिमा' काण्ड के बाद 'जनरल तोजो' की प्रशसा किस ने की? परन्तु प० कृष्ण-

विहारी मिश्र हैं, जिन्हों ने 'देव और विहारी' पुस्तक लिख कर अपना पक्ष रखा। मिश्र जी की जैसी प्रकृति गभीर है, भाषा भी वैसी ही है।

प्रत्यक्ष दर्शन का अवसर तब मिला, जब लखनऊ से 'माधुरी' निकल रही थी और मिश्र जी तथा श्री प्रेमचन्द जी उस के सम्पादक थे। 'प्रधान'-'सहायक' जैसी बात न थी, परन्तु दाहिने-बाएँ अङ्गों की-सी स्थिति थी। मिश्र जी का नाम पहले छपता था और श्री प्रेमचन्द जी के दाहिने आप की कुर्सी रहती थी। मैं (नवलकिशोर प्रेस के) पुस्तक-सम्पादन विभाग में था और 'माधुरी'-सम्पादन विभाग में ही बैठता था। उस समय श्री प्रेमचन्द तथा मिश्र जी को समीप से देखने-समझने का अवसर मिला। जब 'साहित्यिकों के सस्मरण' लिखूं गा, तब विशेष लिखने को मिले गा।

मैं लखनऊ से हरिद्वार जा पहुँचा, सन् १९२६–२७ की बात है। प० शालग्राम शास्त्री ने 'साहित्य दर्पण' पर बड़ी सुन्दर टीका लिख कर छपाई थी—'विमला'। आदर्श टीका है। 'मक्षिकान्याने मक्षिका' नहीं है। टकसाली और चहकती हुई भाषा में तत्त्व इस तरह समझाया गया है कि हिन्दी वाले सरलता से सब समझ लेते हैं। इस 'विमला' को देख कर न जाने कितने रस-अलकार के ग्रन्थ हिन्दी में लोगों ने लिख डाले! टीका में साहित्य के पुराने आचार्यों के मतों का निराकरण भी यत्र-तत्र हुआ है; सो ठीक, होना ही चाहिए। मत-भेद प्रकट किया ही जाता है। परन्तु शास्त्री जी ने उन आचार्यों के लिए ठीक भाषा का प्रयोग नहीं किया है! मुझे शास्त्री जी का मत भी कहीं-कहीं असगत जान पड़ा! 'पल्लवोपमितिसाम्यसमक्षम् ..' को शास्त्री जी ने समझे बिना ही माघ को व्युत्पत्ति-शून्य कह दिया! मैं ने एक लेख 'विमला' पर भेजा, 'माधुरी' में प्रकाशनार्थ। मिश्र जी ने लिखा—'लेख की जगह लेखमाला चल सकती है, पर भाषा वैसी न रहे, जैसी शास्त्री जी ने दूसरों के लिए प्रयुक्त की है।' मेरे साहित्यिक जीवन में यह सीख बहुत काम आई।

पं० देवीदत्त शुक्ल

THE INDIAN PRESS, LTD
FINE ART PRINTERS AND PUBLISHERS

Allahabad

———— ———— ———— 193

Reference No ————

प० देवीदत्त शुक्ल ने 'सरस्वती' की उपासना में तन्मय हो कर अपनी आँखें खो दीं! वे आज-कल अपनी इस वृद्धावस्था में ऐसी स्थिति में हैं कि देख कर मन में हिन्दी-ससार के प्रति तरह-तरह के विचार उठते हैं!

लोग इतने कृतघ्न हो गए हैं कि जिस की कोई हद नहीं! शुक्ल जी परम तेजस्वी हैं। वे किसी के मुंहताज नहीं। वे उन मनीषियों के वंशज हैं, जो लक्ष्मीपति के लात मारने में प्रसिद्ध हैं। ब्राह्मण तपस्वी होता है, दीन-दरिद्र नहीं। हम कृतघ्न तो इस लिए हिन्दी-संसार को कह रहे हैं कि वह इतनी जल्दी शुक्ल जी को भूल गया, जब कि वे हम लोगों के बीच में ही शान्त-एकान्त जीवन बिता रहे हैं!

मैं शुक्ल जी से कई बार लड़ा, जब वे 'सरस्वती' के सम्पादक थे। एक बार तो तब कुछ मन-मुटाव हो गया, जब ठा० गोपाल शरण सिंह की 'माधवी' उन्हों ने आलोचना के लिए मुझे दी और मैं वैसी आलोचना न कर सका, जैसी कि वे (शुक्ल जी) चाहते थे। एक ही चीज के बारे में दो भिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। पर, मैं यह नहीं कह सकता कि इस से शुक्ल जी नाराज हो ही गए हों गे। तुरन्त ही उन की नाराजी की कोई बात सामने नहीं आई।

कुछ दिन बाद 'सरस्वती' का आना बन्द हो गया। मैं ने कारण पूछा, तो शुक्ल जी ने लिखा कि जो लोग पारिश्रमिक ले कर ही लिखते हैं, उन के नाम 'सरस्वती' की फ्री-लिस्ट में न रखे जाएँ, यह निश्चय हो गया है, इस लिए आप के पास 'सरस्वती' नहीं आ रही है। मुझे बुरा लगा। मैं ने लिखा कि पारिश्रमिक देने वाली पत्रिकाएँ भी बराबर आती हैं और यदि वैसा नियम आप के यहाँ बना था, तो मुझ से पूछ तो लेना था कि पारिश्रमिक चाहिए, या 'सरस्वती'? खैर, मेरा सबन्ध 'सरस्वती' से टूट गया।

कुछ दिन बाद फिर 'सरस्वती' आने लगी। मैं ने आचार्य द्विवेदी को लिखा कि आप ने शुक्ल जी को कुछ लिखा है क्या? उत्तर आया, मैं ने कुछ नहीं लिखा। इधर-उधर आप के लेख छपे देखे हों गे; सो ठीक राह पर आ गए हों गे। 'सरस्वती' का किस्सा द्विवेदी जी को मालूम था और उन्हों ने पहले ही लिखा था एक पत्र में कि वे स्वयं अपनी भूल समझें गे—'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्'।

एक वार ठाकुर श्री नाथ सिंह नाराज हो गए थे, तब भी 'सरस्वती' का ग्राना वन्द हो गया था। फिर ग्राना शुरू हुग्रा, किन्तु ग्राचार्य द्विवेदी के कागज-पत्रो के वडल 'सभा' से निकलवाने में जो मैं ने सघर्ष किया, उस से फिर झगडा! इडियन प्रेस से 'देशदूत' साप्ताहिक निकलता था, जिस में 'सभा' का पक्ष ले कर मुझे झूठा वताया गया! मैं ने 'मराल' में कडा जवाव दिया। इस पर सम्पादक प० ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने मुझे नोटिस दिया कि ग्राप ने हमारी-सम्पादको की—तथा प्रत्यक्ष निर्देश कर के प्रोप्राइटर की भी मानहानि की है, इस लिए खेद-प्रकाश कीजिए, ग्रन्यथा मामला ग्रदालत में जाए गा। मैं ने जवाव दे दिया—'ग्रदालत चलना ग्रच्छा है। वहीं सव भेद खुले गा।' वस, सव चुप! तव से 'सरस्वती' नहीं ग्रा रही है।

'तरगिणी' मेरा मुक्तक काव्य है। 'तरगिणी की कुछ तरगें' नमूने के लिए पहले निकाली थीं, जिन का परिचय ग्रगस्त की 'सरस्वती' में निकलने का निर्देश शुक्ल जी ने पत्र में किया है। मन्दमतियो में शुक्ल जी ने ग्रपने को यो गिना—

'तरगिणी' निकलने से कुछ ही पहले व्रजभाषा-विरोध की एक हवा चली थी—महाकवि पन्त ग्रौर प० रामनरेश त्रिपाठी जैसे सेनानी विरोध में सामने ग्राए थे। मैं ने—केवल मैं ने—इन सव लोगों के तर्कों का ऐसा उत्तर दिया कि सब चुप हो गए। 'हरि ग्रौध' जी मेरे इस व्रजभाषा-समर्थन से वहुत प्रसन्न हुए थे ग्रौर एक पत्र भेज कर ग्रपनी प्रसन्नता प्रकट की थी। मैं ने ग्रागे व्रजभाषा का परिष्कार भी किया। 'कियौ' 'गयौ' 'राम सौ न सुन्दर' जैसे प्रयोगों की गलत धारा रोकी। टकसाली व्रज-भाषा दिखाने के लिए ही 'तरगिणी' लिखी, जिस की तरगों से लोग झूम उठे थे। स्वयं प० रामनरेश त्रिपाठी ने लिखा था—

सरस तिहारे वोहरे, सुकवि किसोरीदास!
रस वरसत, मन बस करत, हरत हिये की प्यास।

'तरंगिणी' के प्रारम्भ में एक दोहा है—

होति 'खड़ी बोली' खरी, ब्रजभाषा के जोग।
ताकों निन्दत मन्दमति, जिन स्रौननि कछु रोग!

इस के 'मन्दमति' पर शुक्ल जी का यह कहना है! परन्तु, 'ब्रजभाषा का व्याकरण' निकला, तब 'सरस्वती' में समालोचनार्थ गया। कुछ दिन बाद में प्रयाग गया, शुक्ल जी से मिलने गया। बोले—"आप के ब्रजभाषा-व्याकरण ने मुझे अन्धा कर दिया! बरामदे में बैठा पढ़ता रहता हूँ। पढ़े बिना रहा नहीं जाता!"

श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्र जी की बड़ाई जब स्वयं प्रेमचन्द जी ने की, तब मैं ने उन के कृतित्व का अन्दाजा लगाया। बहुत दिनों की बात है। उस के बाद तो वे कुछ से कुछ हो गए हैं—बहुत आगे निकल गए हैं। वे अपने ढंग के हिन्दी में एक अलग विवेचक हैं। स्वभाव पहले तो मैं रूखा समझता था; बाद में धारणा बदल गई। परन्तु जैनेन्द्र जी से कई बातों में मेरा मत-भेद रहा है। एक बात पक्की है कि वे अपने विचारों पर अडिग रहते हैं। कभी-कभी उन के काम में और विचार में अन्तर भी दिखाई देता है। यहां एक घटना का जिक्र करूँ गा, जिस से दोनो बातें स्पष्ट हो जाएँ गी—दृढता भी और कार्य तथा विचार में विषमता भी।

'सम्मेलन' का जयपुर-अधिवेशन अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है; क्योंकि हिन्दी-हिन्दुस्तानी में से एक को चुनना आवश्यक इस लिए हो गया था; क्योंकि महात्मा जी ने त्याग-पत्र 'सम्मेलन' से दे दिया था। वे कहते थे कि 'सम्मेलन' या तो 'हिन्दुस्तानी' मान ले, नहीं तो मेरा त्याग-पत्र स्वीकार करे। अबोहर-अधिवेशन में पूरी रस्सा-कसी हो चुकी थी और हिन्दी का स्पष्ट समर्थन देश कर चुका था। अब महात्मा जी ने अन्तिम जोर डाला था, जैसी कि उन की कार्य-पद्धति थी। हम सब बड़ी चिन्ता और द्विविधा में थे। महात्मा जी 'सम्मेलन' छोड़ जाएँ गे, तो क्या हो गा! और महात्मा जी को रखो, तो हिन्दी छोड़ो! धर्म-संकट था!

जयपुर-अधिवेशन में त्याग-पत्र उपस्थित किया गया। खुले अधिवेशन में चिन्ता का वातावरण था। परन्तु हम लोगों ने सोचा कि हिन्दी को नहीं छोड़ना है। 'सम्मेलन' हिन्दी के लिए बना है और हिन्दी के लिए ही अब तक लड़ा है। महात्मा जी हिन्दी का समर्थन कर रहे थे; इसी लिए राजर्षि टंडन उन्हें 'सम्मेलन' में लाए और 'सम्मेलन' की तथा हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ी, प्रसार हुआ। अब महात्मा जी ने 'हिन्दुस्तानी' (हिन्दी—उर्दू) का पक्ष लिया है; सो उन की इच्छा।

'सम्मेलन' को इस में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। उन का हिन्दी-पक्ष 'सम्मेलन' ग्रहण करता है और अपने गृहीत मार्ग पर ही आगे बढ़ना चाहता है।

इस अवसर पर महात्मा जी से त्याग-पत्र वापस लेने के लिए प्रार्थना करने को जगह न थी, क्योंकि वह सब हो चुका था—"बापू-बाबू पत्र-व्यवहार" प्रसिद्ध चीज है। बाबू जी (श्रद्धेय टंडन जी) सब परह से अनुनय-विनय कर के भी महात्मा जी को त्याग-पत्र वापस लेने को राजी न कर सके थे।

'सम्मेलन' का वातावरण पूरे का पूरा हिन्दी के पक्ष में था। केवल चार या पांच सज्जन ही इस पर दृढ़ थे कि चाहे जो हो, महात्मा जी को 'सम्मेलन' में अवश्य रखा जाए। इस का मतलब था 'हिन्दुस्तानी' को मान्यता! इन चार-छह मनीषियो में श्री जैनेन्द्रकुमार जी सर्व-श्रेष्ठ रहे। एक सज्जन जौनसार बावर के साथ थे और एक थे ठाकुर श्रीनाथ सिंह।

श्री जैनेन्द्र जी ने अपनी पूरी शक्ति लगा कर अपने पक्ष का समर्थन किया! सन्ध्या के सात बजे अधिवेशन प्रारम्भ हुआ था और बारह के बाद दो बज गए! मत लेने पर कोई दस-पन्द्रह एक ओर आए, शेष सब दूसरी ओर। परन्तु जैनेन्द्र जी की दृढता दाद देने योग्य देखी। 'हिन्दुस्तानी' भाषा का जो रूप रखा गया था, आज भी उपलब्ध है। श्री जैनेन्द्र कुमार जी की पुस्तको की भाषा देखिए और 'हिन्दुस्तानी' देखिए! कोई मेल है? श्री जैनेन्द्र जी ने शायद महात्मा जी के लिए ही 'हिन्दुस्तानी' का समर्थन किया हो! परन्तु तब सिद्धान्त कहाँ रहा?

ऐसी कुछ विचित्र बातें बडे विचारकों में होती हैं, जिन्हें साधारण-जन समझ नहीं पाते।

ठाकुर श्रीनाथ सिंह तो इतने बिगडे थे कि विरोध में 'स्थायी समिति' से त्याग-पत्र दे दिया था। बाद में फिर हिन्दी ही राष्ट्रभाषा बनी और सब ठीक हुआ, पर महात्मा जी ने 'हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा' का काम बन्द न करने का आदेश तब भी दिया था। वे अडिग रहते थे।

पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

किया। वस्तुत. इन्द्र जी का समर्थन नहीं, चतुर्वेदी जी का विरोध ही समझिए।

वात यह कि चतुर्वेदी जी के नाम के आगे उन दिनों 'राय वहादुर' शब्द लगता था और राष्ट्रीय सघर्ष के उन दिनों में इस तरह के उपाधि-शब्द मुझे वहुत वुरे लगते थे! सव राष्ट्रीय नेता जेल में थे, इस लिए मै और भी विदक गया! मै ने सोचा, 'सम्मेलन' पर अग्रेजी राज के अङ्ग-उपाङ्ग कहीं कब्जा न कर लें! वस, इसी भावना से मै ने चतुर्वेदी जी का विरोध किया था और सयोग की वात कि इन्द्र जी जीत भी गए! परन्तु विधि का विधान, विधान की ऐसी उलझन सामने रख दी गई कि वे अध्यक्ष-पद सँभाल न पाए! फिर चुनाव कराया गया और एक तीसरे ही सज्जन सभापति वन गए! इस पुर्ननिर्वाचन में चतुर्वेदी जी ने अपना नाम नहीं देने दिया था।

हिन्दी का काम 'राय वहादुर' लोगोने कितना किया है! राय वहादुर वावू श्यामसुन्दरदास, राय वहादुर वावू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', राय वहादुर प० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, राय वहादुर प० श्यामविहारी मिश्र आदि की जीवनी देखिए। इसी तरह के है प० श्रीनारायण चतुर्वेदी। 'सम्मेलन' को हिन्दी से मतलव। पर उस समय मेरी प्रवृत्ति ही दूसरी थी! यह इतना और ऐसा प्रकट विरोध करने वाले पर भी चतुर्वेदी जी का स्नेह-सौजन्य वरावर ज्यो-का-त्यों रहा! यह कितनी वडी वात है!

पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी

प० बनारसीदास चतुर्वेदी सात्त्विक और फक्कड साहित्यिक हैं। मौजीपन तो चौबे लोग साथ लाते हैं, भले ही उस का प्रकार चाहे जो हो। प० बनारसीदास चतुर्वेदी का नाम तो पहले ही सुन रखा था, पर विशेष रूप से विचार आदि तब जाने, जब कलकत्ते से 'विशाल भारत' निकला और उस के सचालक श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ने चतुर्वेदी जी को उस का सम्पादन-भार सौंपा। 'विशाल भारत' के द्वारा ही मैं ने चतुर्वेदी जी को समझा।

प्रत्यक्ष दर्शन मैं ने अबोहर-'सम्मेलन' में पहले-पहल किए, जब आप 'विशाल भारत' छोड कर 'बुंदेलखण्ड' की 'टीकम गढ' रियासत में आ

गए थे। 'विशाल भारत' छोड़ा न था'; 'लंबी छुट्टी' ली थी, जो अब तक चल रही है! टीकम गढ़ के राजा साहब (स्वर्गीय श्री वीरसिंह जू देव) साहित्यिक रुचि रखते थे और किसी समय चतुर्वेदी जी के छात्र भी कदाचित् रह चुके थे। चतुर्वेदी जी के पहुँचने से 'टीकम गढ़' उन दिनों एक साहित्यिक गढ़ बन गया था। यहीं से चतुर्वेदी जी अबोहर (पजाब) पहुँचे थे और कैमरा में आँखें गड़ाए जुलूस का फोटो ले रहे थे; मैं ने देखा। 'भले विराजे नाथ' याद आ गया। अधिवेशन पर कोई खास बात-चीत नहीं हुई। व्याख्यान आदि देने-सुनने में उन की रुचि ही नहीं।

चतुर्वेदी जी निश्छल ब्राह्मण हैं। बात करते समय सब कुछ कह जाते हैं। इन की इसी प्रवृत्ति के कारण 'इंटरव्यू-काण्ड' हो गया था, जब ये कलकत्ते में 'विशाल भारत' के सम्पादक थे। प्रयाग से ठाकुर श्रीनाथ सिंह जी कलकत्ते किसी काम से गए। ठाकुर साहब सरस साहित्यिक हैं, मेरी जैसी उजड्ड प्रकृति के हैं, मुँहफट भी हैं, सब साफ-साफ कह देते हैं। श्री प्रेमचन्द जी की यह प्रकृति ठाकुर साहब ने ही प्रकट की थी कि निन्दित पात्रों की कल्पना के समय प्रेमचन्द जी ब्राह्मण को ही देखते हैं! बात सच थी; पर किसी दूसरे ने कहा न था! श्री प्रेमचन्द जी इस का उत्तर देते ही क्या? परन्तु लोगों ने बुरा माना कि ठाकुर साहब को ऐसा न लिखना था! एक बार इसी तरह श्री सन्तराम बी० ए० ने श्री जहूर बख्श के बारे में लिखा कि श्री जहूर बख्श जी अपनी कहानियों में यह दिखाते हैं कि हिन्दू लोग अपनी औरतों से बुरा बर्ताव करते हैं; मुसलमान लोग प्रेम का बर्ताव करते हैं, इस लिए हिन्दू औरतें मुसलमानों के साथ भाग जाती हैं। श्री सन्तराम जी के इस आक्षेप का उत्तर श्री जहूर बख्श जी ने यह दिया कि अब आगे मैं हिन्दी में कहानियाँ लिखूँ गा ही नहीं! खैर, हम ठाकुर साहब की चर्चा कर रहे थे।

ठाकुर साहब चौबे जी से मिल कर प्रयाग पहुँचे, तो (चौबे जी का) 'इंटरव्यू' छाप दिया! इस पर चौबे जी नाराज हुए कि यह आपसी बात-

चीत थी, इटरव्यू न था, छपने की चीज न थी। वाद-विवाद में मैं ने चतुर्वेदी जी का पक्ष लिया और ठाकुर साहव शायद नाराज हो गए। परन्तु ठाकुर श्रीनाथ सिंह में कुछ ऐसे मानवोचित विशेष गुण हैं, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। जब किसी शिशु को गोद लेने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो ठाकुर ने, ठकुरानी को नाराज कर के भी, एक बच्ची को गोद लिया और ठकुरानी ने जिस सुन्दर बच्चे को पसन्द किया था, उसे नहीं लिया! बोले—'लडके को तो कोई भी गोद ले जाए गा, हमें लडकी गोद लेनी चाहिए।' यह घटना मेरे सामने की है—हरिद्वार के 'सर गगाराम विधवा-आश्रम' की।

मैं चतुर्वेदी जी के बारे में कह रहा था, बीच में ठाकुर साहब आ कूदे, जबर्दस्ती। श्री चतुर्वेदी जी जिन के भक्त हैं, उन में से कुछ ये हैं—प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, प० पद्मसिह शर्मा, भारत-भक्त मि० एड्रूज, महात्मा गान्धी और उनके 'गुरुदेव' श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री गणेश शकर विद्यार्थी आदि। कविरत्न प० सत्यनारायण आप के मन में सदा रहते हैं, जिन की जीवनी भी आप ने लिखी थी। और सब की भी जीवनियाँ लिखनी हैं—सन्दूकों में सामग्री भरी हुई है! पर मैं समझता हूँ, इस सामग्री का उपयोग चतुर्वेदी जी न कर पाएँ गे।

पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल

पं० श्रीकृष्णदत्त पालीवाल 'साहित्यरत्न' भी हैं, यह कम लोग जानते हैं। पहले उन के नाम के आगे 'एम० ए०, साहित्यरत्न' छपा भी करता था। वे बहुत पुराने 'साहित्यरत्न' हैं, इस सस्ते युग के नहीं। तब 'साहित्यरत्न' होना बहुत कठिन काम था, जैसे साहित्य का 'डाक्टर' होना। अब तो दोनों ही 'टके सेर' हैं। प्रारम्भ में पालीवाल जी ने साहित्यिक प्रवृत्ति प्रकट भी की थी, एक-दो रचनाएँ तथा अनुवाद-ग्रन्थ प्रकाशित कराए थे। पर आगे धुआँधार राष्ट्रीय संघर्ष में पड़ कर वे सब भूल गए।

१९२०-२१ में पालीवाल जी कानपुर थे। श्री गणेश शंकर 'विद्यार्थी' के आप दाहिने हाथ थे। 'विद्यार्थी' जी जेल चले गए, तो 'प्रताप' तथा 'प्रभा' पालीवाल जी को ही सौंप गए थे और कह गए थे तुम सत्याग्रह न करना, इस काम को सँभालना। 'प्रभा' बहुत ऊँचे दर्जे की सामाजिक–साहित्यिक पत्रिका थी। 'प्रताप' तो जुझाऊ था ही। उसी समय मैं पालीवाल की योग्यता समझ गया था। इस के अनन्तर पालीवाल जी ने आगरे को जागरण दिया। छत्रपति शिवा जी से मिल कर जैसे महाराज छत्रसाल ने अपने क्षेत्र में आकर रण-रंग मचा दिया था, उसी तरह कानपुर के प्रतापी 'विद्यार्थी' जी से दीक्षा ले कर पालीवाल जी ने 'बाँकुरो, गुन-आगरो मेरो आगरो बनै गो अब,' की भावना ले कर आगरे पहुँचे। आगरा राजनैतिक जीवन से शून्य था। पालीवाल जी ने 'ऊसर कौं सर कियो'। मैंने १९३०-३१ में देखा, आगरे जिले में पालीवाल की वही स्थिति थी, जो 'बारदोली' में सरदार पटेल की। जब पटेल ने लगानबन्दी

आन्दोलन चलाया, तो देश भर में केवल एक जगह उन का अनुगमन किया जा सका था। केवल आगरे जिले में पालीवाल जी ने लगानबन्दी आन्दोलन शुरू किया। 'नागरी' गांव का नाम मुझे अभी तक याद है, जहां से यह आन्दोलन शुरू किया गया था। निश्चित दिन और समय पर आगरे से टिड्डी-दल की तरह लोग 'नागरी' पहुंच गए थे। उधर सरकारी घुड़सवार पुलिस तथा फौज ने गांव को पहले से ही घेर रखा था। गांव के चारों ओर सवेरे से शाम तक जनता तथा पुलिस-फौज की लाग-डांट चलती रही। अच्छा कबड्डी का खेल रहा। सन्ध्या-समय रण शान्त हुआ और पालीवाल जी के आदेश पर लोग मैदान से हट कर समीप के एक दूसरे गांव के बाहर इकट्ठे हुए। पालीवाल जी सामने आए और ऊंचे चबूतरे पर खड़े हो कर बोले—"शाबाश वीरो! आज की लड़ाई से दुश्मन समझ गया है हमारी शक्ति को। विजय हमारी हो गी। खेत-जमीन छिन जाएं, परवाह मत करो। अभी कागज उन के हाथ में हैं; लिख दें गे कि 'कल्लू की जमीन मुल्लू को दी गई।' हमारे हाथ में कागज आ जाए गा, तो हम लिख दें गे कि 'कल्लू की जमीन उसे वापस दी गई और पचास बीघे जमीन इनाम में दी गई'।" लोग अपने सेनापति की उत्साह-भरी वाणी सुन कर हरे-भरे हो गए, दिन भर की थकान और भूख-प्यास न जाने कहां गई!

सूबे में प्रथम बार कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल बनने पर पालीवाल जी सूबे भर के ग्राम-विकास के प्रमुख बनाए गए। दूसरी बार जब मन्त्रिमण्डल बना, तो आप 'अर्थ-मन्त्री' बने। गृहमन्त्री या अर्थ-मन्त्री ही आगे चल कर प्रायः मुख्य मन्त्री बनता है। परन्तु पालीवाल जी ठिठके, तब तो! सरदार पटेल वीर थे, 'उग्र' न थे। पालीवाल जी में उग्रता है! यदि पालीवाल जी कुछ दिन 'साबरमती-आश्रम' या 'सेवा ग्राम' रह आए होते, तो वे आज शासन के किसी अत्युच्च पद पर होते। कभी-कभी उन की रसिकता भी प्रकट होती है। नाम में 'कृष्ण' पद और फिर स्वयं ब्रजवासी!

पत्र में 'महिला-सम्मेलन' का जिक्र है। कुम्भ-मेले पर कुछ 'खाऊ-पीऊ' लोग 'महिला-सम्मेलन' के नाम पर देश भर से चन्दा इकट्ठा कर रहे थे। उन्हें मैं जानता था। उन लोगों ने पालीवाल जी से भी 'अपील' पर हस्ताक्षर करा लिए थे। मैं ने पालीवाल जी को लिखा कि आप कहाँ फँस गए! उसी के उत्तर में पक्तियाँ हैं।

स्टेशनवाली घटना यह है कि पालीवाल जी लखनऊ से आगरे आए, तो स्टेशन पर किसी पुलिसवाले को चाँटे मार-मार कर नसीहत दे दी! ऐसी ही बातें तो आगे बढने में बाधक हुईं। पुलिसवाला उन्हें वही ('सत्याग्रही') पालीवाल समझे बैठा हो गा। ये थे सूबे भर के एक प्रमुख अधिकारी! परन्तु जब पालीवाल जी सत्याग्रही थे, तब भी (१९३०-३१ में) एक थानेदार को पीटते-पीटते बेदम कर दिया था—आगरे में ही। बदमिजाजी का मजा मिला था उसे! वैसे मैं ने देखा, आगरे में ही मुहम्मद अली जैसे थानेदार पालीवाल जी की दिल खोल कर प्रशसा करते थे। असल बात यह कि क्रान्तिकारी कुल में पैदा हुआ बालक अहिंसावादी कुल में गोद चला गया था! सस्कार दूसरे, चलना दूसरे के ढँग से पडा! सन् १९३४–३५ में सूबे की सरकार ने जो शासन की रिपोर्ट निकाली थी, उस में पालीवाल को 'सूबे का सबसे अधिक खतरनाक व्यक्ति' बतलाया गया था। मेरी 'तरगिणी' में एक दोहा है—

देखी तो मैं गजब की, बिजुरी पालीवाल!
होत गरम, अति छनक मैं, जासो नैनीताल!

'नैनीताल'—उस समय सूबे की ग्रीष्म-कालीन राजधानी।

पं० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर'

प० रामाज्ञा द्विवेदी 'समीर' मेरे पुराने मित्र हैं। 'समीर' मकरन्द में मस्त रहता है और स्थिर नहीं रहता। हमारे मित्रवर सदा उड़े-उड़े फिरते रहे—उड़ाते भी रहे, मौज! परन्तु यदि स्थिरता होती, तो आज आप शिक्षा-जगत् में बहुत ऊँचे किसी पद पर होते। कब की बात है, अंग्रेजी में प्रथम-श्रेणी में, आप प्रथम रहे थे, एम० ए० की परीक्षा में। काशी-विश्वविद्यालय में अंग्रेजी-विभाग के अध्यक्ष प्रो० शेषाद्रि के आप

है ; पर अधिक दिन टिकें गे, इस में मेरा विश्वास नहीं। कुछ-कुछ यही स्थिति पं० सीताराम चतुर्वेदी की भी है। चतुर्वेदी जी भी आज-कल बलिया में एक कालेज के आचार्य हैं। द्विवेदी-चतुर्वेदी दोनो ही हिन्दू-विश्वविद्यालय के पुराने स्नातक हैं, दोनो हिन्दी के विद्वान् हैं, दोनो रसिक हैं। एक को गोरा रंग मिला है, तो दूसरे को संगीत का मधुर रंग मिला है। मेरी कामना है, अब इस 'तुरीय' अवस्था में स्थिरता अवश्य आ जानी चाहिए। घर-गृहस्थी का भी तकाजा है!

द्विवेदी जी ब्रजभाषा के अच्छे कवि हैं, 'खड़ी-बोली' के विवेचक हैं और 'अवधी' के शब्द-सागर का मन्थन कर के 'अवधी'-शब्दकोश' आप ने तयार कर के प्रयाग की 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' से प्रकाशित कराया है, जो नई चीज है।

जब आप प्रयाग की 'हिन्दी-विद्यापीठ' में आचार्य थे, कुछ दिन साथ रहने का अवसर मिला था। सन् १९२८ की बात है। बीकानेर में मेरे प्रथम पुत्र का देहान्त हो गया और ऐसा आघात लगा कि मैं नौकरी छोड़ आया! इधर-उधर घूम रहा था। स्त्री अपने मायके थी। उसी स्थिति में 'हिन्दी-विद्यापीठ' में कुछ दिन डेरे डाल दिए थे। यहीं हम दोनो ने बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' को 'सम्मेलन' का सभापति बनाने के लिए प्रस्ताव किया; सभा कर के समर्थन किया, अखबारों में लेख लिखे, पर प्रयागी लोगों पर असर न हुआ! इसी तरह इस घटना से बहुत दिन बाद, कुछ दूसरे मित्रों के साथ मैं ने हिन्दी के वृद्ध-वशिष्ठ चतुर्वेदी प० द्वारका प्रसाद शर्मा का नाम 'सम्मेलन' सभापति के लिए प्रस्तावित किया था। यहाँ भी यही हुआ! वृद्धों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमें आता ही नहीं है—उन का सम्मान हम स्वयं लेना चाहते हैं! पतोहू आने से पहले ही सास बनने की इच्छा रहती है! नागरी प्रचारिणी सभा (काशी) में भी डा० श्यामसुन्दर दास की गति बना दी गई थी! जिस ने 'सभा' में जीवन डाला, उसी की छीछालेदर! 'सभा' के संस्थापकों में से एक थे प० रामनारायण मिश्र। इनके प्रति भी कुछ

ऐसा ही वर्ताव हुआ था ! 'सम्मेलन' में ही राजर्षि टंडन की क्या दशा लोगों ने कर डाली ! इस देश का भला हो गा ?

खैर, कहने का मतलब यह कि कई बातों में 'समीर' जी मेरे साथी हैं। जमा तो एक जगह में भी कभी नहीं, पर कारण दूसरे हैं। इधर कारण सूखापन है ! साहित्यिक मामलों में 'समीर' जी से मेरा शायद ही कहीं मत-भेद हो।

'समीर' जी यदि ब्रजभाषा-कविता करना न छोड़ते, तो ऊँचे दर्जे की चीजें दे सकते थे। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, उन में कविता का नैसर्गिक गुण है। परन्तु इस बीज को जमीन नहीं मिली, 'समीर' से काम पड़ा ! सिंचन नहीं हुआ। बीज जहाँ का तहाँ बिला गया !

'वीर-सन्देश' मासिक पत्र आगरे से निकलता था। श्री कपूरचन्द जैन संचालक थे और श्री महेन्द्र जी सम्पादक। मैं इस में लिखा करता था। इन्हीं दिनों दिल्ली से प० रामचन्द्र शर्मा 'महारथी' निकालते थे। यह भी मेरा प्रिय पत्र था। दोनों में मैं लिखा करता था। याद नहीं, 'वीर-सन्देश' का क्या प्रकरण था, जिस का जिक्र पत्र में है।

कविवर हरिशंकर

ओ३म्

सम्पादक

हरिशङ्कर शर्मा

आर्यमित्र, आगरा

कविवर 'शकर' (प० नाथूराम 'शकर') जैसे प्रतिभाशाली कवि हिन्दी को फिर न मिले! जन्मजात कवि थे। प० पद्मसिंह शर्मा की मित्र-मण्डली में 'कवि जी' कहने से 'शकर' जी ही समझे जाते थे। तेजस्वी ब्राह्मण थे। आर्यसमाजी थे, सुधारक थे, पर सरसता ने उन्हें न छोडा था। मजाक भी खूब करते थे। कहते हैं, एक बार श्री धर्मेन्द्र शास्त्री कवि जी के यहाँ (हरदुआगज) मिलने गए। शास्त्री जी ने कहा—'कवि जी, एक दो पक्तियों की छोटी-सी ऐसी कविता बना दें, जिस में आप का और मेरा नाम तथा स्वरूप पूरा-पूरा आ जाए।' जब कवि जी के चर्म-चक्षु स्वस्थ थे, श्री धर्मेन्द्र जी को देख चुके थे। कृष्ण-वर्ण के हैं। कवि जी ने जो कुछ कहा, उस का आधा ही अश मैं ने किसी मित्र से सुना है—

'हाय! केश धर्मेन्द्र-से शकर-से अब हो गए'!

अपने बुढापे का वर्णन है। जो केश कभी धर्मेन्द्र की तरह काले-स्याह थे, आज शकर की तरह शुभ्र-धवल हो गए हैं। पता नहीं, यह कविता सुन कर श्री धर्मेन्द्र जी प्रसन्न हुए, या अप्रसन्न। परन्तु कविता तो मजे की रही। 'शकर का हथियार' वाली चीज भी उन्हीं की है।

'वृषभानु-लली को' समस्या किस तरह घुमा कर कहाँ की कहाँ ले गए थे, यह बात हिन्दी के किसी भी अन्य कवि में आज तक देखने को न मिली! प० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी से भी एक बार साहित्यिक भिडन्त हो गई थी! 'शकर' जी आचार्य द्विवेदी के घनिष्ठ मित्रों में थे।

उन्हीं कवि 'शकर' के औरस उत्तराधिकारी हैं प० हरिशकर शर्मा कविरत्न। भाई हरिशकर जी में कैसी आत्मीयता है, कहने की चीज नहीं। जो कभी मिले हैं, वे ही जानते हैं। जब दिल्ली से झाँसी कभी कभी जाता हूँ और आगरे का 'राजामडी' स्टेशन आता है, तो जी छटपटाता है उतर पडने के लिए! कभी-कभी उतरता भी हूँ। शर्मा जी के पुत्र और पुत्र-वधूटियाँ भी वैसी ही हैं। 'एम० ए०' से कम तो कोई है ही नहीं। एक दिन कहने लगे, अपनी किसी पतोहू की साहित्यिक प्रकृति

की चर्चा करने लगे—जब मैं रहस्यवादी कविता के संबन्ध में अपनी स्पष्ट मान्यता प्रकट करता हूँ, तो कहती है—"पिता जी, आप तो जान-बूझ कर रहस्यवादी कविता को बदनाम करते हैं। क्या इसमें कोई रस है ही नहीं!" मानो उन का कुटुम्ब ही एक साहित्यिक गोष्ठी बन गया है। सर्वथा सौभाग्यशाली है।

सन् १९३१ में भेंट हुई। वृन्दावन गुरुकुल पहुँचे थे। मैं नौकरी से 'नेशनल मूवमेंट' के झपेटे में बर्खास्त कर दिया गया था। आगरे में यही काम कर रहा था। बड़ी तंगी थी। सुना, प० कृष्णबिहारी मिश्र 'कवि-सम्मेलन' के अध्यक्ष हो कर आ रहे हैं। 'माधुरी' के लेखों का पारिश्रमिक न आया था। सोचा, चलो सामने लड़-झगड़ आऊँ। पहुँचने पर मालूम हुआ कि मिश्र जी नहीं आए हैं। प० पद्मसिंह शर्मा ने कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता की। इन दिनों 'बिहारी सतसई और उस के टीकाकार' शीर्षक मेरी लेख-माला निकल रही थी। इस में शर्मा जी का 'सञ्जीवन भाष्य' खास निशाना था। मैं डरा, प० पद्मसिंह शर्मा से मिलने में! अदब करता था। सँभल कर पहुँचा, तो बड़े ही स्नेह से मिले। यहीं प० हरिशंकर शर्मा से मुलाकात हुई—आगरे में न हुई थी। कई दिन साथ रहे। इन्हीं दिनों प० पद्मसिंह शर्मा को 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने कुछ लिखने को दिया था। शर्मा जी ने सोचा, आगरे घर पर हरिशंकर के यहाँ लिखा जाए गा; पर आगरे पहुँचते ही प० हरिशंकर जी एक साइकिल से टकरा कर जन्म भर के लिए 'तैमूर लंग' बन गए! ऐसे में वे यहाँ क्या लिखते! पड़े रहते थे।

की चर्चा करने लगें—जब मैं रहस्यवादी कविता के संबन्ध में अपनी स्पष्ट मान्यता प्रकट करता हूँ, तो कहती है—"पिता जी, आप तो जान-बूझ कर रहस्यवादी कविता को बदनाम करते हैं। क्या उसमें कोई रस है ही नहीं!" यानी उन का कुटुम्ब ही एक साहित्यिक गोष्ठी बन गया है। सर्वथा सौभाग्यशाली हैं।

सन् १९३१ में भेंट हुई। वृन्दावन गुरुकुल पहुँचे थे। मैं नौकरी से 'नेशनल मूवमेंट' के झपेटे में बर्खास्त कर दिया गया था! आगरे में यही काम कर रहा था। बड़ी तंगी थी। सुना, प० कृष्णविहारी मिश्र 'कवि-सम्मेलन' के अध्यक्ष हो कर आ रहे हैं। 'माधुरी' के लेखों का पारिश्रमिक न आया था। सोचा, चलो सामने लट-झगड़ आऊँ। पहुँचने पर मालूम हुआ कि मिश्र जी नहीं आए हैं। प० पद्मसिंह शर्मा ने कवि-सम्मेलन की अध्यक्षता की। इन दिनों 'बिहारी सतसई और उस के टीकाकार' शीर्षक मेरी लेख-माला निकल रही थी। इस में शर्मा जी का 'सञ्जीवन भाष्य' खास निशाना था। मैं डरा, प० पद्मसिंह शर्मा से मिलने में! अदब करता था। सँभल कर पहुँचा, तो बड़े ही स्नेह से मिले। यहीं प० हरिशंकर शर्मा से मुलाकात हुई—आगरे में न हुई थी। कई दिन साथ रहे। इन्हीं दिनों प० पद्मसिंह शर्मा को 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' ने कुछ लिखने को दिया था। शर्मा जी ने सोचा, आगरे चल कर हरिशंकर के यहाँ लिखा जाए गा; पर आगरे पहुँचते ही प० हरिशंकर जी एक साइकिल से टकरा कर जन्म भर के लिए 'तैमूर लंग' बन गए! ऐसे में वे वहाँ क्या लिखते! पड़े रहते थे।